मुद्रक:
डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस,
गोपालजी का रास्ता, जयपुर



लेखक

विषय सूची

भूमिका

"भाव-कण" लेखक की स्वतंत्र निबन्धमाला है। 'रूढ़ि' के आधार पर मैं इसे निबन्धमाला कह सकता हूं या नहीं यह निर्णय तो अपने विद्वान् पाठकों पर ही छोड़ता हूँ, किन्तु मैं यह नहीं समझता कि यदि इन्हें निबन्ध न कहूं तो क्या कहूं? सच तो यह है कि साहित्यिक रूपों और शाखाओं के नामकरण में हम अँग्रेजी के 'पिछलगू' बन गये हैं। हमारा साहित्यिक ढर्रा ही तद्वत् नहीं हो गया अपितु विषय-प्रतिपादन का ढंग भी हम अँग्रेजी के ही अनुकरण पर करने लग गये हैं। कभी-कभी यह भी भूल जाते हैं कि हमें हिन्दी की पैत्रिक संपत्ति का भी सदुपयोग करना है और कभी तो यह स्मरण भी नहीं रहता कि पैतृक सम्पत्ति है भी या नहीं। निबन्ध की भी यही दशा हुई है।

'निबन्ध' का जो संस्कार हमारे ऊपर बन गया है उसका कारण अँग्रेजी है। प्रायः हिन्दी-निबंध-लेखक निबंध की वही परिभाषा और वही भेद करते चले आये हैं जो अँग्रेजी में मान्य हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक हिन्दी-निबंध पर अँग्रेजी का पूर्ण प्रभाव है अथवा यह भी स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं कि हिन्दी में निबंध-विषयक धारणा अँग्रेजी

की ही दी हुई है। फिर भी निबंध की परिभाषा को किसी रूढ़ि में बाँध देना साहित्यिक हितों का अमंगलमात्र है। कुछ लोगों की धारणा बन गई है कि निबन्ध (essay) गद्य का रूप है, पद्य का इससे कोई सरोकार नहीं है। यहाँ तक कहा गया है कि "गद्य केवल तभी फूल-फल सकता है जब उसे पद्य से भिन्न रक्खा जावे; क्योंकि पद्य में वह निश्चयात्मकता नहीं रह पाती जिसके लिए गद्य में बहुत अवकाश रहता है"। कुछ अंशों में पिछली बात ठीक होते हुए भी यह नहीं माना जा सकता कि गद्य और पद्य सफलता पूर्वक निरन्तर नहीं रह सकते, अवस्था विशेष में गद्य भी पद्य में लीन हो सकता है। कदाचित् इसी कारण प्राचीनों ने काव्यञ्च द्विविधं—गद्यञ्च पद्यञ्च' कहा है। हमारी समझ में यह नहीं आता कि गद्य में भावों की प्रधानता क्यों नहीं हो सकती। जब गद्य भी रस-निष्पत्ति की सामर्थ्य रखता है तो पद्य से उसे क्या विरोध है? यह मानते हुए भी कि पद्य एक विशेष साँचे में ढलता है; यह नहीं कहा जा सकता कि वह पद्य का विरोधी है अथवा गद्य में गुण का समावेश नहीं हो सकता।

कुछ लोग यह समझते हैं कि 'निबन्ध' केवल गद्य में ही लिखा जाता है। उनसे मैं सविनय यह पूछना चाहता हूँ कि 'पद्य में भी निबन्ध लिखा जा सकता है' इस मत से उन्हें क्या विरोध है? भाषा और संस्कृत के धुरंधर पंडित गोस्वामी तुलसीदास ने 'भाषा- निबंधमतिमञ्जुलमातनोति' कह कर उस

में कोई शंका नहीं रहने दी कि पद्य में भी निबंध लिखा जाता है। गोस्वामीजी ने मानस के लिए 'निबन्ध' और 'प्रबंध' दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि निबंध पद्य मे भी हो सकता है।

अंग्रेजी की निबन्ध की पुस्तकों में निबंध के अनेक भेद दिए गए हैं। उन्हीं भेदों को हिन्दी के निबंध लेखकों ने भी स्वीकार किया है। साधारणतया निबंध के चार भेद वर्णनात्मक, विचारात्मक, कथात्मक और ऐतिहासिक, माने गये हैं, किन्तु ये भेद स्थायी या अमिट नहीं हैं। इनकी संख्या घट बढ़ भी सकती है। स्थूलरूप से निबन्ध के वर्णनात्मक और विचारात्मक दो भेद हो सकते हैं। काल, स्थान और व्यक्ति के वर्णन प्रथम भेद के अन्तर्गत आने चाहिए। धार्मिक आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और आलोचनात्मक निबंध विचारात्मक विभाग के ही उपभेद मात्र हैं; किन्तु किसी वर्णनमात्र को ही निबन्ध कहना सर्वथा अनुचित है। किसी एक वर्णन या विचार के बीज रूप से अनेक रूप में फैलाने और अनेकता को संश्लेषात्मक ऐक्य प्रदान करने को निबन्ध कहते हैं। विचारों या वर्णनों का संश्लेषात्मक ऐक्य ही निबंध की विशेषता होती है। मनोसूत्र के योग से निबन्ध के भिन्न-भिन्न मुक्ताओं की मालाकारता सिद्ध होती है। अतएव उसमें यदि जीवन की एकता दीख पड़े तो आश्चर्य भी क्या? व्यक्ति आश्रय से वर्णन की विशेष अवस्था में निबंध ही कहानी का

रूप धारण कर लेता है। परिभाषा के व्यापक अर्थ में तो उपन्यास भी निबंध में अन्तर्लीन हो सकता है।

चरित्र या घटना की प्रधानता ज्यों-ज्यों अधिक प्रस्फुटित होगी कहानी या उपन्यास निबन्ध से भिन्न दीखने लगेंगे। निबंध में आत्मचेतना वास्तविकता तक ही सीमित रहती है, जब कि कहानी या उपन्यास में उसकी उड़ान 'अपूर्व लोक' तक भी हो सकती है। स्पष्टता, निस्संकोचता और अप्रतिहार्यता सुनिबंध के अनिवार्य अंग हैं। कहानी या उपन्यास में अन्तिम दो गुणों का अभाव रहता है। 'सुन्दर' साहित्य का अधिष्ठाता होने से निबंध में भी रहता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। निबंध का 'सुन्दर' कहीं भाव (emotion) होता है और कहीं विचार- (thought)। भाव-सौन्दर्य में आनन्द का स्पन्दन और विचार-सौन्दर्य में सत्य का विनिवेश रहता है।

'भाव-कण में 'वस्तु स्थिति' की परीक्षा अपने दृष्टि कोण से की गई है। यहाँ देश काल और समाज के सहयोग से परिस्थितियों पर विचार करके भावों को भिन्न-भिन्न शैलियो में रक्खा गया है। निबंधमाला का आधार मूलतः भाव होने से इसका नाम भाव कण ही उपयुक्त प्रतीत हुआ है!

यह 'निबन्ध-माला' विद्यार्थियों की हित कामना से लिखी गई है। इसमें 'इन्टरमीडिएट' एवं बी. ए के छात्रों के लिए

सुज्ञेय सामग्री उपस्थित की गई है। मैं जानता हूँ कि इससे विद्वानों की रुचि-तृप्ति नहीं हो सकती, किन्तु इतना विश्वास है कि छात्र-वर्ग को लाभ अवश्य होगा, या यह कहिए कि इस में विद्यार्थियों को गद्य में भावाभिव्यक्ति की अनेक शैलियों से अवगत कराया गया है। इन से छात्रों की लेखन-शक्ति का विकास होकर उनकी शैली का उद्‌बोधन एवं परिमार्जन होगा। यदि यह ग्रंथ विद्यार्थियों का कुछ भी लाभ कर सका तो मैं अपने श्रम को पूर्णतया सफल समझूँगा।

इसके लिखने में मुझे आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य श्री रामकृष्ण शुक्ल, बाबू गुलाबराय एम. ए., श्री कन्हैयालाल सहल, के कुछ लेखों एवं अपने एम. ए. के छात्रों के भावों से बड़ी प्रेरणा मिलती रही है; अतः मैं उनके प्रति आभारी हूं।

जयपुर
१२-१-५०

लेखक

साहित्य और मनोरंजन

मनोरंजन और मन का आल्हादन एक ही अर्थ के वाचक हैं। जिनसे मन प्रसन्न हो सकता है या जो चित्तवृत्ति को अस्वस्थ स्थिति से निकालकर स्वस्थ बनाते हैं उन्हें मनोरंजन के साधन कहना चाहिये। मनोरंजन के अनेक साधन हो सकते हैं। उनमे देश काल की परिस्थितियों के कारण अन्तर हो सकता है, किन्तु उन सबका फल मनको एक ही रूप में मिलता है। वही मन रंजन है।

मानवता के इतिहास में मनोरंजन कब आया, यह निश्च पूर्वक तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु संस्कृति के उदयकाल में कभी इसका जन्म हुआ होगा, यह अनुमान किया जा सकता है सुख-दुःख की मूल अनुभूतियों के अन्तराल में मानव को क इसकी आवश्यकता हुई होगी। संस्कृति के विकास के इतिह को ही संक्षेपतः मनोरंजन के विकास का इतिहास कहा जा सक है। मनोरंजन का सूत्रपात आनन्द के अनुसंधान की भूमि माना जा सकता है। मन की स्थिति से इसका घनिष्ट सम्बन्ध इसकी धारा में वृत्ति दुःख से निकलकर सुख में आ मिलती मन को सुख तक ले जाने के लिए रंजन उतना ही तीव्र चाहिये जितना दुख का आवेग। इससे दुख के गम्भीरतर की दशा में सुख की अवाप्ति संभव नहीं है।

जगत् में गीत, संगीत, नृत्य आदि मनोरंजन के अनेक साधन हैं, किन्तु ये सब वाह्य हैं। आभ्यन्तरिक मनोरंजन की दशा में योग-स्थिति प्राप्त होने लगती है। वाह्य और आन्तरिक दोनों साधनों से मनोवृत्ति की स्थिरता अभिप्रेत होती है; परन्तु योग द्वारा कुछ आगे बढ़कर, मन निलय-दशा तक पहुँचाया जा सकता है। यों तो मनोरंजन की आभ्यन्तरिक दशा में भी सौन्दर्य की स्थिति रहती है, पर वहाँ वह समाहित रूप में होता है, जब कि वाह्य दशा में उसकी केवल कलाएँ दीख पड़ती हैं जिनमें मनोरंजन की पूर्णता नितान्त असंभव है। एक दशा मे आनन्द का पूर्ण नैसर्गिक रूप है, दूसरी में अपूर्ण और कृत्रिम। एक में स्थायित्व है दूसरी में अस्थायित्व। एक में प्रेय के साथ श्रेय का ग्रन्थि-बन्धन है, दूसरी में प्रेय एकाकी है।

मनोरंजन के वाह्यावाह्य रूपों में भिन्नता होते हुए भी भारतीय भक्ति-धारा में उसका सम्मिलित रूप देखने को मिलता है। एक ओर तो भारतीय भक्त वाह्य साधनों का आश्रय लेकर संगीत लय मे अपना स्वर मिलाकर इष्ट के गुणों का गान करता है और दूसरी ओर जगत को आराध्य में विलीन कर देता है। इस प्रकार वह वाह्य साधनों से मन को प्रलय-स्थिति तक ले जाता है। भारतीय भक्ति प्रवाह में श्रेय और प्रेय के सम्मिलन के कारण ही तो उसका रूप इतना स्थिर और बहुमान्य दीख रहा है। भक्ति का रूप जितना श्रेयस्कर है उतना ही प्रेय एवं मनोरंजक भी। उसमें लौकिक और पारलौकिक जीवन का

सुन्दर रंगीन चित्र होने से ही भारतीय साहित्य ने उसे अधिक अपनाया है।

मनोरंजन जीवन का प्रमुख अंग है, अतः साहित्य में भी उसका ऊँचा स्थान है। जीवन को लेते समय साहित्य मनोरंजन को नहीं भुला सकता। जीवन से साहित्य का जितना गाढ़ालिंगन होगा मनोरंजन उतना ही प्रखर होगा। जब हम रामचरित मानस को पढ़ने बैठते हैं तो कथा के साथ-साथ अनेक भावों की लहरें हमारे मन में लहराने लगती हैं; चित्त पढ़ने से रुकना नहीं चाहता। वृत्तियाँ कछुए के अंगों की भाँति एकस्थ एवं संग्रहीत हो जाती हैं। रोम-हर्षण के साथ कण्ठ गद्गद् हो उठता है और आनन्दाश्रु का वेग रोके नहीं रुकता। यही साहित्य की मनोरंजकता है। लेखक और पाठक दोनों ही के लिये साहित्य मनोरंजक होता है। साहित्यकार तुलसीदास की भाँति स्वयं स्वान्तः सुख प्राप्त करके अक्षरों में छिपकर भावों की रचना करता हुआ औरों के लिये मनोरंजन की ही नहीं, आनन्द की सृष्टि करता है।

साहित्य के स्थायित्व की मात्रा के साथ साथ मनोरंजन की मात्रा भी बढ़ती जाती है। सामयिक साहित्य से केवल सामयिक मनोरंजन ही हो सकता है, परन्तु सार्वकालिक साहित्य में मनोरंजन की स्थायी क्षमता होती है। हो सकता है कि आज के किसी 'पूज्य वाद' को कल अवमान्य होना पड़े, किन्तु रामचरित्र मानस

या कामायनी जैसे सार्वकालिक साहित्य के अपमान की आशंका कदापि नहीं की जा सकती। जिसमें सर्वकालीन मनोरंजन की क्षमता है वही सर्वकालीन साहित्य है। सर्वकालीन साहित्य 'विशेष' में 'सामान्य' का रूप प्रकट करता है जिसमें जीवन का स्थिर चित्र मिलता है। इसीलिये सर्वकालीन साहित्य में सामान्य मनोरंजन प्रदान करने की शक्ति रहती है।

साहित्य में जीवन की अभिव्यक्ति कला और भावों द्वारा होती है। इन्हीं में उसका सत्य, शिव और सुन्दर सन्निहित रहता है। मूलत मनोरंजन सौन्दर्यजन्य होता है। सुन्दर में मनोरंजन की शक्ति होती है। साहित्य का कलात्मक सौन्दर्य मनोरंजनकारी होता है, सत्य जिस प्रकार कला को स्थिर रूप देता है उसी प्रकार मनोरंजन को भी। और 'शिव' 'सत्य' और 'सुन्दर' से मनोरंजन का सान्निध्य स्थापित करता है। साहित्य की संगीतशाला में बैठी हुई कला जब कोमल भावों की अंगुलियों से 'सत्य, 'शिव' और 'सुन्दर' के तारों का स्पर्श करती है तभी हृदय की वीणा मनोरंजन की झंकार से स्वरित हो उठती है।

सौन्दर्य भाव और रूप दोनों में रह सकता है, किन्तु भाव-सौन्दर्य रूप-सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है। कभी २ तो पहले की व्यापकता दूसरे को आत्मसात् ही कर लेती है। मजनूँ का लैला के प्रति आकर्षण भाव सौन्दर्य की अमोघ शक्ति

का उदाहरण है । भाव के रंग में रँगा हुआ 'कुरूप' भी 'सुरूप' बन जाता है । साहित्य में इनकी पृथक् और अपृथक् दोनों स्थितियाँ मिलती हैं । श्रद्धा, प्रेम, विश्वास आदि के निरूपण में भाव सौन्दर्य की स्थिति होती है और वेश-भूषा अंगादि के नख-शिख वर्णन में रूप सौन्दर्य की । कृष्ण के प्रति अर्जुन की श्रद्धा जितना भाव सौन्दर्य प्रस्तुत करती है, उतना ही उनके प्रति गोपियों का आकर्षण रूप सौन्दर्य का प्रदर्शक है ।

इस प्रकार सुन्दर एक ओर रूप से संश्लिष्ट रहता है, दूसरी ओर भाव से । दोनों दशाओं में ही मनोरंजन होता है; परन्तु साहित्य में रूप-सौन्दर्य भाव-सौन्दर्य में ही अन्तर्लीन हो जाता है । वहाँ रूप-वर्णन होते हुए भी, वह चक्षु-विषय नहीं होता; अतएव साहित्य में रूप की भावना ही करनी होती है ।

सामान्य मनोरंजन से साहित्यिक मनोरंजन में एक विशेषता होती है, वह यह कि जगत् में जो वस्तुएँ भय, उद्वेग, घृणा आदि का कारण होती हैं वे ही साहित्य में रस-निष्पत्ति में सहयोग देती हैं । ब्रह्मानन्द-सहोदर होने से रस में उनकी कटुता माधुर्य में परिणत हो जाती है । इसीलिए जुगुप्सा जैसा भाव भी अपनी चर्वणावस्था में रस रूप में आस्वादित किया जाता है ।

रहस्य

कवि देखने में हम जैसा, किन्तु करने में अद्भुत स्रष्टा है। उसकी दृष्टि बड़ी तीव्र होती है। जिन बातों को हम अपने स्वप्न में भी नहीं देख पाते, वे कवि के निरीक्षण में नहीं छूट पातीं। उसमें विचित्र सृजनशक्ति होती है। वह अदिव्य को भी दिव्य बना सकता है। वही तो नास्तिता में अस्तिता ला सकता है; किन्तु उसके चमत्कारों में ऐन्द्रजालिक का सा धोखा नहीं और न वे क्षणभंगुर ही हैं। उसकी कृतियों को चमत्कारी इस लिए कहते हैं कि उनमें रोतों को हँसाने और हँसतों को रुलाने की शक्ति है। उसकी पहुँच कहाँ नहीं? जहाँ रवि भी नहीं पहुँच पाता वहाँ कवि जा पहुँचता है। उसका दिव्य आलोक कविता में बिखर कर हमारे मानसिक तिमिर का नाश करता है। कवि का विधान अक्षर है। उसकी प्रगति बहुमुखी है। वह स्वयं तो द्रष्टा है ही और सब कुछ देख सकता है, किन्तु हम भी उसके साथ उस लोक में जा पहुँचते हैं जहाँ दृश्य और अदृश्य मिल कर बैठते हैं, जहाँ हृदय अपना भार फेंक देता है; उसमें उन्मुक्त की सी लघुता आजाती है और उस रस से आप्लावित हो जाता है जिसे अन्य शब्दों में ब्रह्मानन्द भी कहते हैं। उसकी उक्ति में चमत्कार, उसके व्यक्तीकरण में मोहन-शक्ति और उसके भावों में व्यापकता रहती है। उसके भावासव से मदालसित लोचन कुछ का कुछ देखने लगते हैं। उसकी विधि में भाव

का पुट और लक्ष्य में आनन्द का शिखर है। उसके माधुर्य का हम तिरस्कार नहीं कर सकते। छल हमें उसके पास नहीं ले जा सकता। उसके लोक में प्रवेश करने के लिए केवल बुद्धि पर्याप्त नहीं होती, वरन् जब तक हम उसके साथ सहानुभूति नहीं रखते वास्तविक आनन्द से वंचित रहते हैं। सहानुभूति उसके रहस्य की कुंजी है। कविता लोक में प्रवेश पाने के लिए संवेदना हमारी योग्यता का प्रमाणपत्र है।

हम उसके रूप में कवि की वाणी 'बिनु पद चलहि सुनहि ... आदि' को साकार देखते हैं। कवि ही तो विधि का अग्रज है, नहीं, नहीं, विधि का भी विधाता है क्योंकि वह विधि को भी अनेक बार बनाता-बिगाड़ता रहता है। उसका आदेश कितना व्यापक है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसके आयुध (शस्त्र) की नोंक पर नाचते रहते हैं। साकार को निराकार और निराकार को साकार बनाने में उसको अमोघ शक्ति प्राप्त है। वह ब्रह्म की भाँति हमारे भीतर और बाहर की सब बातें जानता है। उसकी इच्छा-शक्ति ब्रह्म-माया से किसी भाँति कम नहीं। उसके इंगितों में पकड़ और प्रभाव में वशीकरण होता है। कितनी आराधना, कितनी उपासना और कितनी तपस्या के पश्चात् हम में से कुछ ही ब्रह्म को पहिचान पाते हैं, किन्तु अपना संबल लेकर जब हम कवि के साथ उठते हैं तो क्षणों में ब्रह्मानन्द की सी सहजानुभूति हो जाती है। उसकी व्याज स्तुति के सामने माया की कलई खुल जाती है। कुम्हार के डंडों से पीड़ित गर्दभ भी कवि

की कृपा से 'गदहा' बन जाता है। उसकी शंख-ध्वनि में भव-सागर से पार करने की शक्ति दीखने लगती है। हमारे जैसे रूप-रंग वाला कवि इतना अद्भुत क्यों है ? इसकी अलौकिक शक्ति का आधार क्या है ? और वह उसे कैसे मिल गया है ? इसीलिए कि वह हृदय की आँखों से देखता है, मन के कानों से सुनता है, भावों के संसार में रहता है और कल्पना के विमान में उड़ता है। वह अमृतमय रससागर में विहार करता है। फिर उसे क्षीरशायी से ऊपर पद क्यों न मिलना चाहिए ? फिर उसे दिव्य और अद्भुत कहने में आश्चर्य की क्या बात है ?

कवि अपने पार्थिव रूप में सामान्य व्यक्ति है, किन्तु कविता के आलोक से मंडित उसे हम दिव्य ही पाते हैं। उसकी अपार्थिवता का दर्शन कविता में ही होता है। सरस्वती के संरक्षण का मानों वह ठेकेदार है। भगवती भारती उसकी रसना पर निवास करती है। उसकी पकड़ से शायद ही कोई बचता हो। चेतन-अचेतन, अखिल जगत् उसके संकेत की प्रतीक्षा करता रहता है। रात को दिन और दिन को रात बनाने के प्रस्ताव पर ब्रह्मा को भी न जाने कितना चकराना पड़ेगा, परन्तु कवि के लिए वह एक क्षणमात्र का काम है। रवि-शशि को अनेक बार उसके निकट आना पड़ता है। जिस समय वह देश-काल की परिधि-रेखा खींचने बैठता है, उस समय 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कालातीत को भी ईर्ष्या होने लगती होगी। अपने विरह-प्रवचन में वह राकेश को

चंडांशु और पीयूषवर्षी कोकिल को काल बना देता है। कवि की आँखों में विरहिणी की रजनी को द्रौपदी का चीर बनने से कौन रोक सकता है? सुरधुनी का स्नान दुःख का निवारण करता है यह तो केवल सुनी हुई बात है, किन्तु कवि की रस-धुनी में गोते लगाने से आनन्द-लोक की प्राप्ति होती है, यह अनुभूत सत्य है। वह अपूर्व भूषणकार की भाँति उत्तम धातु से वांछित शब्द उत्पन्न करके वह ध्वनि निकालता है कि विराग उसका भार नहीं सँभाल सकता। यह नहीं कि उसके शब्दों में पायल की मीठी झंकार ही रहती है, अपितु वज्र का कठोर निर्घात और असिलता का प्रकम्प भी उसी भाँति कालानुप्रेरित आ जाता है।

कवि का जीवन एक संघर्ष का इतिहास होता है। औरों का संघर्ष उसका संघर्ष है। अनागत विपत्तियों की सूचना से वह अपने साथियों को चेतावनी और भविष्य की सफलता के संदेश से उनको उत्साह देता हुआ संघर्ष से पार निकालने में सचेष्ट रहता है। जो हृदय इसके आलोक को ग्रहण करता है उसमें निराशा का तिमिर प्रवेश नहीं कर सकता। इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह निराशा को भूल जाता है। परन्तु वह आशा को सफलता की कुंजी बनाकर चलता है। आशा उत्साह को बढ़ाती है और निराशा का नाश करती है। जीवन संघर्ष में निराशा के सामने से जयलक्ष्मी भाग जाती है, अतः मंगल भावना की

घातक होने से निराशा को वह अपने लक्ष्य के मार्ग में नहीं आने देता।

कवि का वर्ण्य कुछ भी हो सकता है। उसके लिए दृश्य और अदृश्य वह कुछ भी ग्रहण कर सकता है। उसे जिस प्रकार वर्णन की प्रेरणा स्वर्ग या राज सभा से मिल सकती है उसी प्रकार ग्राम से भी। वर्डस्वर्थ को आचरण का सौन्दर्य 'लीच गैदरर' में भी दीख पड़ा था। कवि के वर्णन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लग सकता। वह कुछ भी कह सकता है क्योंकि निरंकुश होता है। वह डरता नहीं है। जब तक उसमें कल्पना की शक्ति है और लेखनी उसके वश में है वह अपने मन का राजा है। उसकी निर्भीकता में भावानन्द बहता चला जाता है जो किसी भी सहृदय के लिए सुलभ होता है। उसकी जादू से मुग्ध हुआ लेखक कवि का आह्वान करता है:

आओ कवि तुम बैठ गिरा पर, मेरी शक्ति जगा दो।
सुन्दर को मैं चला खोजने, शिव और सत्य मिला दो॥

जीवनचरित

संचित ज्ञानराशि जब अन्तर्वेष में सरसता लेकर प्रकट होती है उस समय उसे साहित्य का नाम दिया जाता है। जीवन का प्रतिरूप होने से उसमें जीवन के विविध चित्र प्रस्तुत रहते हैं, किन्तु साहित्य में एक जादू है जीवन से एक विशेषता है, वह यह कि जीवन के मूल मनोभाव, सुख दुःख जब साहित्य में प्रवेश करते हैं तो उनकी प्रकृति बदल जाती है, वे सरस बन जाते हैं। यों तो जीवन में पद-पद पर सुख-दुःख रहते हैं, और कभी कभी तो सुख की प्रतीति इतनी दुर्लभ होजाती है कि सुख का नाम मिटा कर जीवन को दुःख की धरोहर मान लिया जाता है, पर ऐसे भी क्षण आते हैं जब मानव जीवन सुख दुःख से बहुत ऊँचा किसी अलौकिक स्तर पर पहुँच जाता है; किन्तु साहित्य में निस्सन्देह सुसाहित्य में तो वह स्तर सदैव बना रहता है। साहित्य जीवन से परिवेष्टित रहता हुआ भी किसी लोकोत्तर स्वादु वस्तु के प्रदान करने में समर्थ बना रहता है। जिस आनन्द की कल्पना केवल मुनियों के मन के लिए ही सुगम होती है उसी का सहोदर साहित्य में पाठक को हृदय भर कर मिलता है।

जिसमें जीवन भरा है उसे निर्जीव कहना तो युक्तियुक्त दीख ही नहीं पड़ती। जो प्रेरणा दे सकता है, जो बना-बिगाड़ सकता है, जिसमें विकसित होने की क्षमता होती है, उस साहित्य को

तो सब सजीव ही कहते हैं। जिसमें स्पन्दन नहीं, चेष्टा नहीं, जो रूढ़ियों में फँस कर गतिहीन होगया है, जिस में प्रभावित करने की शक्ति का अवशेष नहीं है, उसे ही निर्जीव साहित्य कह सकते हैं।

जब हम साहित्य मे जीवन की कल्पना कर लेते हैं तो उसके अंग-प्रत्यंगों को नहीं भुला सकते। प्रौढ़ या विकसित साहित्य उसी को कह सकते हैं जिसके अनेक अंग परिपुष्ट हों। यहीं अब यह प्रश्न हो सकता है कि साहित्य के अंगों में हम क्या क्या ग्रहण कर सकते हैं? कविता, कहानी, उपन्यास आदि अंग तो साहित्य के संबंध में ख्याति पा ही चुके हैं। इन्हें साहित्य का अंग न मानना धूप को चाँदनी कहना है। जब इतिहास और जीवनचरित से हमें प्रेरणा मिल सकती है, हृदय में भी स्पन्दन हो सकता है तो भला हम इन्हें साहित्य के क्षेत्र से कैसे निकाल सकते हैं?

इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास और जीवनचरित साहित्य के ही अंग हैं, पर उनमें कहानी, उपन्यास आदि के समान कला का उपयोग नहीं करना पड़ता। उनमे कल्पना की उड़ानें काम नहीं आतीं। सत्य अपनी वस्तु-स्थिति में रहता है; पर इतिहास और जीवनचरित में एक प्रथित अंतर यह होता है कि जीवनचरित किसी एक के संबंध में होता है और इतिहास अनेक के संबध में। इतिहास में घटनाओं को सामने रख कर पात्रों को पीछे देखा जाता है, किन्तु जीवनी में चरितनायक

समक्ष रखना पड़ता है और घटनाएँ उसके पीछे आती हैं। जीवनचरित में मनुष्य अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और पूर्ण होकर प्रकट होता है। उसके गुण यथार्थता प्राप्त कर लेते हैं। अनेक उपायों की बहुलता जिसका जाल उसे जीवन मे फैलाना पड़ता है और घटनाओं के नानात्व की सम्पन्नता जीवनचरित के क्षेत्र में विशदता प्राप्त कर लेती हैं।

जीवनचरित की सार्थकता इसमें है कि उसका विषय जीवन है, तथ्य है, सारवान है, उसमें विश्वकल्याण की संभावना का बीज प्रस्तुत है। उसमें अनर्गल मसाले नहीं जिससे उसे चटपटा बनाया जावे। चरितलेखक को यह अधिकार नहीं कि वह अपना विषय छोड़ कर कल्पना के साथ उड़ता फिरे; अपनी रचना को फलगर्भ बनाना उसकी अनधिकार चेष्टा होगी। उपन्यासकार ऐसा कर सकता है। वह अपनी रचना का नायक किसी साधारण व्यक्ति को बनाकर उसे रोचक बनाने के लिए इच्छानुकूल सामग्री और वातावरण जुटा सकता है, परन्तु जीवनी लिखने वाला इस स्वतंत्रता से नितांत वंचित है। उसका एक मात्र धर्म अपने नायक की कथा कहना है। उसमें वह निर्मूल एवं अनपेक्षित तत्वों को सम्मिलित नहीं कर सकता।

उपन्यासकार या कहानीकार की तरह नाटककार भी अपनी विधायिनी प्रतिभा का कौशल प्रदर्शित कर सकता है। वह पात्रों के मुख से जो चाहे कहला सकता है; विस्तारों को मनोनुकूल मुड़ाव दे सकता है किन्तु चरितलेखक का काम तो एक मुनीम

का सा है। वह रत्ती-रत्ती भर का व्यौरा रखता है। उसे तो अपने नायक के विषय में लिखित तथा अलिखित तथ्यों को केवल अपने शब्दों में ढाल देना होता है; उसे नायक या वस्तु-कथा को घड़ने की आवश्यकता नहीं होती।

चरितलेखक को अपने नायक के जीवन की एकता की रक्षा करनी होती है। वह कहीं से ईंट और कहीं से रोड़ा लेकर भानुमती का कुनबा नहीं बना सकता। उसे विस्तारों को यथा-स्थान रखना पड़ता है। देश और काल की नायक के जीवन के साथ संगति दिखानी पड़ती है नायक की जीवनी के अंगों को उसकी जीवनसमष्टि के साथ समीचीन रूप से बैठाना पड़ता है। पंक्ति-पंक्ति में चरितनायक चमकता रहे तब तो जीवनचरित जीवनचरित है, अन्यथा उसका कोई मूल्य नहीं।

चरितनायक के जीवन की घटनाएँ प्रमाणित होती हैं। उनके साथ उनकी बौद्धिक, हार्दिक तथा व्यावहारिक अनुभूतियाँ भी संकलित रहती हैं। उसके भाव, व्यापार विचार, एवं संसर्ग अपना अपना महत्व लेकर अवतरित होते हैं जो लेखक के हाथ में अपनी स्वतन्त्रता रखते हैं।

चरित्र-लेखक नायक के चरित के संबंध में अपनी ओर से नमक-मिर्च नहीं मिला सकता, इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह नायक के चरित्रवर्णन में अपने व्यक्तित्व को नहीं मिला सकता। इस प्रकार नायक का चरित्र अपनी मौलिक स्वतन्त्रता

अक्षुण्ण रखता है। ऐसी जीवनियों में लेखक की अपने विषय की ओर पहुँच अवैयक्तिक होती है, किन्तु इस संबंध में एक और मत है जिसके अनुसार लेखक अपने नायक के विषय में अपना दृष्टिकोण भी प्रस्तुत कर सकता है। यहाँ लेखक नायक के जीवन के चित्र को अपनी स्वतन्त्रता से रँग सकता है। वह नायकविषयक तथ्यों को इस प्रकार प्रदर्शित करता है जिस प्रकार उसने उन्हें समझा है ? लेखक का यह उपक्रम वैयक्तिक कहलाता है। चरित्र की मौलिक पवित्रता रखने के लिए लेखक की अवैयक्तिकता परमवाञ्छनीय है, नहीं तो स्तुति-निंदा के प्रभाव से सत्य का रूप खींचतान मे पड़ कर बिगड़ सकता है।

यह मानी हुई बात है कि चरितनायक कोई महापुरुष होता है। स्तुति-निंदा के फेर में पड़ जाने से न केवल महापुरुष के जीवन की वास्तविकता को ही व्याघात पहुँचता है, वरन् लेखक मिथ्यात्व के दोष का अतिरेक अपने शिर पर और लादता है। इतना ही नहीं लोक उससे मिलने वाली श्रेयस्कर प्रेरणा से भी दूर कर दिया जाता है। यद्यपि सामान्य लेखक के लिए महापुरुष के जीवन के तथ्यों के संबंध में सचाई बरतना बड़ी दुष्कर बात है, किन्तु सचाई और तटस्थता के बल से ही जीवन-चरित की सार्थकता की रक्षा हो सकती है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जीवनचरित का परम सौन्दर्य उसकी परम वस्तुपरकता में है। आत्मपरकता का समावेश होने

से उसमें वैयक्तिक वर्णानुरोध का आगम हो जायगा और तदनुरूप मात्रा में वस्तु सौन्दर्य शिथिल होजायगा। आत्म-परकता तो आत्मकथा तक के लिए एक बड़ा व्याघात है, जीवनी के लिए तो कहना ही क्या ! आत्मकथा भी जीवन-चरित का ही एक रूप विशेष है। अन्तर इतना सा होता है कि आत्मकथा में स्वयं लेखक ही नायक होता है। "कला" की दृष्टि से कुछ इने गिने आत्मकथा लेखक ही परिष्कृत बन पाते हैं। इस कठिनाई का कारण यह है कि आत्मवेदन कला का प्रबल शत्रु है और आत्मकथा में आत्मवेदन ही की प्रधानता रहती है। जब कोई व्यक्ति अपनी कथा लिखने बैठता है तब वह स्वभावतः बाह्य जगत को भूल अपने आप में समाहित होजाता है और अपनी आत्मा को दूसरों के सम्मुख गुणान्वित दिखाने और अपनी रचना को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से बहुधा अपने आपको ऐसे रूप मे वर्णित करता है जैसा वह वास्तव में होता नहीं है।"

जीवनचरित लिखने की जो प्रथा हिन्दी में आज-कल प्रचलित है वह नई है। भारतीय साहित्य में इसका प्रचलन तो रहा है, किन्तु दूसरे रूप में। गद्य में नहीं, पद्य में। यदि हम राम को ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में नायक मान लें तो रघुवंश और रामायण को जीवनचरित कहने में कोई आपत्ति नहीं दीखती, किन्तु भारतीय चरित्रों को काव्य के साँचे में ढाला

गया है जिनमें कवि की वैयक्तिक भावनाओं का कलात्मक पुट है। वस्तुतः हिन्दी में जीवनचरित लिखने की प्रथा का आगम नवीन है। यह प्रथा संस्कृत से नहीं आई और न प्राचीन हिन्दी कवियों ने ही इसका प्रचलन किया था। हिन्दी साहित्य के इस नवीन अंग के मूल में अंग्रेजी का अनुकरण स्पष्टतः दीख रहा है।

युग पुरुष

'गांधीजी महात्मा थे' यही उनके व्यक्तित्व की परिभाषा है। वे जितने बड़े थे उतने ही छोटे भी थे। यही उनके जीवन का महत्त्व था। उनकी उच्चता में सरलता का सहज समन्वय था। हमें गर्व है कि वे हिन्दुस्थानी थे, परन्तु उनका जीवन मानवमात्र के लिए था। उनकी ऊँचाई का पूरा अनुमान उनके जीवन-काल में नहीं होसका था; वह अब प्रकट होगी। वे सच्चे हिन्दू थे, पूर्ण धर्मबुद्धि थे, इसलिए उनके सब सिद्धान्तों में प्रेम व्याप्ति के रूप में संग्रहीत था। उन महात्मा ने संसार को आदर्श में यथार्थ की संस्थिति की संभावना का स्वानुभूत परिचय दिया है। स्वगृहीत उदात्त विचारों के प्रति जैसी एकनिष्ठता उन्होंने समर्पित की वैसी कदाचित् ही किसी ने प्रदर्शित की होगी। सत्य उनका प्रकाश था और अहिंसा कवच। वे अपने मार्ग पर वीर सेनानी की भाँति बढ़े जा रहे थे।

उनका कवच भीरु पुरुषों का कवच नहीं था। वह वीरों का था। उनकी 'अहिंसा' में क्षमा और सुधार की भावना थी। अहिंसा को उन्होंने इसलिए नहीं अपनाया था कि हिंसा को अवसर नहीं मिल सका था, वरन् इसलिए कि वे उसको लेकर बड़ी दृढ़ता से वीर सैनिक की भाँति आगे बढ़ सकते थे। उनके विचार, कथन और कर्म में अहिंसा कूट कूट कर भरी थी। हम नहीं जानते कि अपकार भावना कभी बापू के पास भी फटकने

पाई होगी, हम नहीं जानते कि किसी को संकट में डालने वाली बात उन्होंने कभी कही होगी और हम नहीं जानते कि बापू ने कोई काम ऐसा किया होगा जिससे किसी का अनिष्ट हुआ हो। बापू परिणामदर्शी थे। वे दूर की देख लेते थे और उस बात को पकड़ लेते थे जो सब के लिए हितकर होती थी। वे उसी पर अटल रहते थे। यही उनके सत्य का मान था।

बापू को सत्य की पहिचान थी, सत्य से वे चिर-परिचित थे और वे सत्य को सत्य ही मानते थे। उन्हें अपनी भूल प्रिय थी, परन्तु दुराग्रह प्रिय नहीं था। उनसे जब कभी भूल होगई थी, तुरन्त ही उसे उन्होंने स्वीकार भी कर लिया था, किन्तु सत्य को सत्य कहने में या उस पर आचरण करने में उन्हें हिचक नहीं थी। वे सत्य की अवज्ञा कदापि नहीं कर सकते थे। सत्य उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय था। उसी में उन्हें मनोज्ञता दीख पड़ती थी और उसी में उन्हें मंगल-पथ भी दीख रहा था। फिर उसे वे कैसे छोड़ देते। क्या भय उन्हें विचलित कर सकता था ? नहीं, कदापि नहीं। उनके मन में भय था ही नहीं। भय होता भी तो किस बात का ? उन्हें मृत्यु का भय नहीं था, क्योंकि वे शरीर को क्षणभंगुर और आत्मा को अमर समझते थे। काया कच्ची और आत्मा अमिट है यह उनका दृढ़ विश्वास था। अतः मरने का भय तो उनके मन में था नहीं। तो क्या उन्हें अपने नेतृत्व के खो जाने या मानहानि अथवा निंदा का भय था ? कभी नहीं। न तो वे नेता बनना चाहते थे और न निंदा से डरते

थे। वे जानते थे कि सत्य सत्य है और उसकी निंदा मिथ्या। प्रकाश के सामने तिमिर की तरह सत्य के क्षेत्र में मिथ्यापवाद ठहर ही नहीं सकता। यदि महात्मा का त्याग हमारी आँखों के सामने रहे तो हम स्वप्न में भी नहीं सोच सकते कि वे नेतृत्व चाहते थे। इन कारणों से वे अभय थे। इसीसे उनका सत्याग्रह सफल और सर्वमान्य था।

सत्य बापू का धर्म था। वही उनका इष्ट था। वे भक्त थे और सच्चे। आस्तिक्य से उन्हें केवल निष्ठा और विश्वास ही नहीं मिले थे उन्हें मिला था सत्य-प्रेम। उन्हें सत्य के प्रकाश में अपने प्रभु खड़े दीखते थे जिनका रूप प्रेम ललित है और जो 'पराई पीर' को जानते हैं। उनका जीवन प्रभुमय था। उनकी अनन्य चेतना प्रभु-विषयक थी। वे प्रभु को सर्वत्र देख सकते थे। इसलिए पर-पीड़ा का अनुभव उन्हें शीघ्र ही होजाता था।

उनका आस्तिक्य ज्ञान और कर्म से समन्वित था। मानते हैं कि वे बड़े विद्वान् नहीं थे, पर क्या वे बड़े मनस्वी नहीं थे? क्या उन्होंने अपने तत्वानुसंधान से धर्म मौलि को विभूषित नहीं किया? भौतिकता के इस विषम युग में भी मानवता की इकाई की रक्षा उन्हीं महात्मा के द्वारा संभव हो सकी है। उनकी नीति में एक ओर मानवता के विषम-ज्वर के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी और दूसरी ओर ईश्वर के एकत्व की सिद्धि थी। उनके-ऐक्य-तत्व में मानव बन्धुत्व और ईश्वर-पितृत्व मिलकर सुरकस

रहे थे। अनेक धर्म-सुधारक और पैगम्बर होगये हैं, किन्तु अपनी सफलता का इतना बड़ा आदर कोई अपनी आँखों से नहीं देख सका जितना गांधीजी ने देखा।

सच तो यह है कि गांधीजी के व्यक्तित्व के किसी पहलू का स्वतन्त्र विश्लेषण नहीं किया जा सकता। एक में दूसरा इस प्रकार मिला है कि किसी एक की परीक्षा असंभव प्रतीत होती है। उनकी धर्म-प्रियता के सापेक्ष्य भाव थे आत्म-निर्भरता, निर्भीकता और क्षमा। इन भावों को ग्रहण करने की वे दूसरों को भी शिक्षा दिया करते थे। उन्हें आत्म-निर्भरता में शक्ति, निर्भीकता में प्रगति और क्षमा में शान्ति का साक्षात्कार हो चुका था। इन सब का आधार था उनका सत्य। उनकी बहुमुखी विजय के वाहन ये ही सिद्धान्त थे। क्षमा का विरोधी होने से प्रतिशोध की उन्होंने सदैव निंदा की थी। 'पागलपन का उत्तर पागलपन' से देने में उन्हें कभी रुचि नहीं थी; क्योंकि इससे पागलपन का विनाश नहीं हो सकता। द्वेष की जड़ काटने के लिए प्रेम ही को उन्होंने सर्वोत्तम शस्त्र माना था।

बापू के आस्तिक्य-वृत्त में उपवास और मौन-व्रत चलविन्दु थे। उसके अन्तर्भूत रेखा चित्र उन्हीं से बने थे। पवित्रता और स्थिरता उन्हें यहीं से मिली थी। उनके उपवास का इतिहास, उनकी दृष्टि से, उनके परिशोध का इतिहास है और परन्दृष्टि से राजनीतिक सफलता का इतिहास है। यह निश्चित रूप से नहीं

कहा जा सकता कि वे किन अवसरों पर उपवास किया करते थे; परन्तु हमारा अनुमान है कि आत्म-तम का विध्वंस करने और अपने मार्ग को अधिक स्पष्टतः देखने के लिए ही वे उपवास करते होंगे। चाहे उनका लक्ष्य आत्ममूलक ही रहा हो, परन्तु उसका प्रभाव परमूलक भी था। जिस प्रकार महा तपस्वियों की तपश्चर्या से देवराज इन्द्र भी प्रकंपित हो जाता था उसी प्रकार महात्मा के उपवास से विश्व में सनसनी फैल जाती थी और महास्वार्थियों के हृदय भी दहल जाते थे।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि महात्माजी धर्मबुद्धि और परम वैष्णव थे। उनका वर्णाश्रम धर्म में विश्वास था। उनकी दृष्टि में वर्णाश्रम धर्म का प्रयोजन जीवन की सरलता और सरसता था। वर्ण की ऊँचता-नीचता से जीवन को जटिल और कटु बनाना उन्हें सर्वथा अप्रिय था। धर्म का लक्ष्य आनंदमूलक है जो समता और शान्ति में सन्निविष्ट है। धर्म विषमता में, ऊँच-नीच के भाव में, नहीं रह सकता, ऐसी उनकी अटूट धारणा थी! वे जानते थे कि वर्ण-विषमता ही राष्ट्र के पतन का कारण थी। जब तक वर्ण-साम्य की भावना का ग्रहण नहीं किया जायगा तब तक राष्ट्रीय चेतना को बलिष्ठ नहीं किया जा सकता, यह मानकर ही उन्होंने 'अछूतोद्धार' का पल्ला पकड़ा था। सेवक की सेवा का मूल्य अछूतभाव से चुकाना उन्हें दुःखद और अन्याय प्रतीत हुआ। उस अंधकार के विनाश के लिए गांधीजी ने अछूतोद्धार का दीपक जलाया जिसका एक ही साथ दो

(धर्म और राजनीति) ओर प्रकाश हुआ। कौन कह सकता है कि उस दीपक की शिखा किधर थी? कौन कह सकता है कि गांधीजी का क्रिया-क्षेत्र धर्म था या राजनीति? यदि दोनों थे तो एक म्यान में दो तलवारें सफलता पूर्वक कौन रख सका है? उन्होंने अपने दुधारे से जिस सफलता के साथ धर्मान्धता की पिशाचिनी का वध किया उसी प्रकार साम्राज्यवाद के भूत का संहार भी।

उनका दूसरा दुधारा था प्रेम और एकता। धर्म की रक्षा के लिए प्रेम की जितनी आवश्यकता है उतनी ही राष्ट्र की रक्षा के लिए। उन्हें एक ओर हरि का रूप दीख पड़ा और दूसरी ओर समष्टि (सामूहिक शक्ति)। उन्हें प्रेम की नौका लोक और परलोक दोनों ओर चलती दीख रही थी। प्रेम ही में उन्हें जीव मुक्ति दीख पड़ी और प्रेम ही में देश-मुक्ति। उनके लिए अनेक धर्मों के विरोध का कोई कारण विद्यमान नहीं था। अनेक धर्म एक ही स्थान पर पहुँचने के लिये भिन्न भिन्न पथ हैं, यह उनकी निश्चित धारणा थी। उनका प्रचार था कि एक ही लक्ष्य की ओर जाने वाले अनेक धर्मावलम्बी परस्पर भाई भाई हैं। वे एक ही संबंध-सूत्र में पिरोये हुए अनेक मोती हैं। अतएव उनका पारस्परिक विरोध न तो नैतिक-दृष्टि से ही मंगलकर है और न पारमार्थिक दृष्टि से ही। उनका कहना था कि हम सब भाई-भाई हैं, एक हैं, क्योंकि अल्लाह, राम, रहीम अथवा केशव नाम से संकेतित एक ही पिता के पुत्र हैं। यह उनका सत्य दर्शन था,

जिसका आलोक उनके प्रवचनों से बिखर कर हमारा पथ बनता चलता था। सत्य के खोजी होने से वह उनसे छिप नहीं सकता था। किसी विशेष व्यक्ति, जाति या भाषा का ही सत्य पर अधिकार नहीं है; वह कहीं भी हो सकता है। उसका सम्मान उन्हें प्रिय था। वह सब धर्मों में है, इसलिए उन्हें सब धर्म सम्मान्य थे।

बापू ! हम आपको श्रद्धांजलि किन शब्दों में अर्पित करें ? हम आपके हैं, इसलिए—

विनय यह हमारी आपसे हे पिता है,
जब जब पथ भूलें आप आना बताने।
गिर यदि हम जाएँ तो उठाना दया से;
जयति जयति बापू सत्य-सिन्धो! हमारे॥

पालि भाषा और जातक

'पाली कौनसी भाषा है' यह प्रश्न बड़ा कुतूहल संवलित है। प्रायः अखिल जगती-तल पर यह व्यक्त दीख पड़ता है कि भाषा का नाम जन (जाती) या जनपद के नाम पर होता है। यह बात तो, भाषावैज्ञानिक ही क्या, हम भी समझ सकते हैं क्योंकि देखने में आता है कि 'वंग' लोगों की भाषा 'बंगला' 'गुर्जर' लोगों की 'गुजराती', महाराष्ट्रों की 'मराठी', काश्मीरों की 'काश्मीरी' आदि व्यपदेश इसी सिद्धान्त को सिध करते हैं। इस प्रकार से भाषाओं का नाम करण आज ही नहीं पहले भी हुआ करता था। 'शौरसेनी', 'मागधी', महाराष्ट्री आदि नाम इसी सिद्धान्त के सूचक हैं; परन्तु पाली का सम्बन्ध किसी देश विशेष या जनपद विशेष से न मिलने के कारण, यह नाम विचित्र प्रतीत होता है।

इस विषय में भाषाविज्ञान के पंडितों में मत भेद है। कोई भारतीय मत को बिलकुल नहीं मानते और कोई भारतीय एवं अभारतीय मत स्थिर करते हैं किन्तु इन सब से हमारा प्रत्यय समुत्पन्न नहीं होता। हम यहां ऐसे विचार को प्रस्तुत करते हैं जिसका कोई अटूट आधार है और जो विश्वास का कारण बन सकता है।

इतिहास के प्रमाणों द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब भगवान् बुद्ध अपनी चिरसमाधि द्वारा सम्यग्ज्ञानरूपा 'बोधि'

प्राप्त कर के, चिरानुभूत 'बोधिसत्त्व' पदवी को लाँघ कर, 'बुद्धता' में पहुँच गये तब परमकारुणिकतावश लोक का शोकसन्तान से उद्धार करने के लिए उनकी बलवती मति प्रादुर्भूत हुई। समाधियों द्वारा स्वानुभूत तत्व का अच्छी तरह समाधान करके उसको जनता में प्रख्यापित करने का निश्चय किया। उनका उपदेशरूप प्रथम प्रवचन काशी में हुआ। उनके उपदेशामृत का निपान प्राकृतजन भी यथेच्छ कर सके, इसलिए उन्होंने सकरुण मति से अपने उपदेश 'लौकिक गिरा' में ही दिये। वह कौनसी लौकिक वाणी थी जिसे भगवान् ने संभावित किया था? निःसन्देह वह मगध की उस समय की कोई बोलचाल की भाषा होगी, क्योंकि बुद्ध स्वयं मागध थे। उनका मगधदेश में उत्पन्न होना विख्यात ही है। उस भाषा को मागधी ही कहना चाहिये, किन्तु यहां एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि वह मागधी प्राकृतव्याकरणों में प्रसिद्ध मागधी नहीं है। यह अति प्राचीन है और व्याकरणमागधी अति अर्वाचीन है। दोनों का भेद व्यक्त करने के लिए विद्वानो ने एक को 'बौद्ध मागधी' और दूसरी को 'प्राकृत मागधी' कहा है। यह बौद्धमागधी जैनागम भाषा से स्फुट रूप से भिन्न है। उसका नाम 'अर्द्धमागधी' विख्यात है। भगवान् महावीर ने, मागध होते हुए भी, शुद्ध मागधी का उपयोग नहीं किया था, यह बात 'अर्द्धमागधी' शब्द से स्पष्टतः प्रतीत हो जाती है। बहुत से विद्वानों का मत है कि 'जैनमागधी' किसी अन्य भाषा से

मिश्रित है। उन कोविदों की कल्पना है कि भगवान् महावीर ने प्रभूत श्रोताओं के सुखावबोध के लिए स्वयं ही वैसी भाषा का विनियोग किया। जो कुछ भी हो, यह 'बौद्धमागधी' जैनों की अर्द्धमागधी से विभिन्न है। यह बात अनेक प्रमाणों से भले प्रकार समर्थित हो चुकी है। यही बौद्धमागधी पश्चात् 'पाली' नाम से प्रथित हुई।

आज 'पाली' शब्द का क्या अर्थ है? पालि शब्द जिस प्रकार संस्कृत में उसी प्रकार बौद्धमागधी में भी, 'पंक्ति अर्थ में बहुशः प्रयुक्त दीख पड़ता है और 'अभिधानप्पदीपिका' में भी कहा है "पन्ति वीथ्यावलिस्सेनि पालि रेखा च राजी च।" अब भी पंडितमण्डलियों और संस्कृत छात्र संघों में इस प्रकार के विविध वाक्य श्रवणगोचरता को प्राप्त होते हैं। 'तात्पर्यार्थ तो ग्रहण कर लिया गया है, किन्तु पंक्ति आज भी अच्छी तरह स्फुटीभूत नहीं है', 'यदि परीक्षाओं में पूर्ण साफल्य पाना है तो 'पंक्तियों' पर विशेष ध्यान दो' आदि वाक्य संस्कृत में सुनाई पड़ते हैं। इस प्रकार का प्रयोग हम लोगों में आज ही अवतीर्ण नहीं होगया है, अपितु पूर्वाचार्यों के लेखों में भी वह देखने को मिलता है।

जिस प्रकार 'पंक्ति' शब्द का संस्कृत में 'मूलग्रन्थ' के अर्थ में प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार उसी अर्थ में 'पालि' शब्द बौद्धमागधी में प्रयुक्त हुआ दीख पड़ता है, जैसे महावंश में बुद्धघोष की अर्थकथा को लक्ष्य कर के कहा गया है

"थेरियाचरिया सब्बे पालिं विय तमग्गहुं (स्थविरा आचार्याः सर्वे पालिमिव तामग्रहीषुः) और जैसे शासनवंश में "जम्बूद्वीपे पन 'पालि' मत्तं येव अत्थि, अट्ठकथा पन नत्थि (जम्बूद्वीपे पुनः पालिमात्रमेवास्ति, अर्थकथा पुनर्नास्ति)। इस विमर्श से यह व्यक्त होजाता है कि 'पालि' शब्द पहले 'मूलग्रन्थ' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ था। इस के अनन्तर मूलग्रन्थ से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थों का भी 'पालि' शब्द से बोध होने लगा। बौद्धों के मूल ग्रन्थ त्रिपिटक हैं। अर्थकथा जो उनसे संबधित हैं अथवा साक्षात उसी परम्परा में होने वाले ग्रन्थों का बोध भी 'पालि' शब्द से होने लगा। जो त्रिपिटकों और तदनुबद्ध ग्रन्थों से विभिन्न थे वे उस समय ही पालिशब्दवाच्यता को न पासके तथा शासनवंश (सासनवंस) में कहा भी है—"एते (महावंश) प्रभृति पालि मुत्तकवसेन वुत्ता गन्धातरानि वुच्चति।" एते (महावंश-प्रभृतयः) पालिमुक्तकवशेन वियुक्ता ग्रन्थान्तराणीत्युच्यन्ते ॥

इस प्रकार पालिशब्द 'मूलग्रन्थ' का द्योतन करता था, यह स्पष्ट है। कालक्रम से यह पालि-शब्द जिस भाषा में मूलग्रन्थ लिखे गये थे उसी भाषा का बोध कराने लग गया। पालि मूलग्रन्थ और उसकी भाषा पालि भाषा। भाषापदवियुक्त भी पालिशब्द भाषा का वाचक हो गया।

जब पालिशब्द भाषाविशेष को द्योतित करने लगा तब शनैः शनैः उसका पूर्वतन अर्थ भी उससे छूट गया। जो कुछ भी पालि भाषा में लिखा गया वह सब पालिपदवाच्यता को प्राप्त

होगया। परन्तु यह प्रश्न दुरुत्तर है कि पालिशब्द की अर्थान्तर में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति कब प्रादुर्भूत हुई। चाइल्डर्स महोदय के मत से इसका समय प्रथम या द्वितीय खिष्टाब्दशतक है, किन्तु उसके उदाहरण बुद्धघोष के पश्चात् लिखित ग्रन्थों से भी बहुशः समुपलब्ध होते हैं। बुद्धघोश पंचम शतक में हुए थे, यह विद्वानों का मत है। अतः संभावना है कि तदनन्तर ही बौद्धों ने स्वग्रन्थभाषा को पालिशब्द से पुकारना प्रारंभ कर दिया था।

पालि शब्द के समान 'तन्ति' शब्द का प्रयोग भी मूलग्रन्थ अर्थ में बुद्ध वचनों में बहुशः प्रयुक्त हुआ मिलता है। दोनों शब्द पंक्ति वाचकत्व के कारण प्रायः समानार्थ ही हैं। दोनों का उसी प्रकार प्रयोग भी हुआ है, किन्तु भाषाविशेष का वाचकत्व तो पालिशब्द ने ही प्राप्त किया है। यह कैसे हुआ, इसका इस समय निर्णय करना असंभव है। कदाचित् इसका प्रधान कारण वक्ताओं की प्रवृत्ति ही रही हो।

मूलग्रन्थवाचक 'पालि' शब्द ने उसकी भाषा का वाचकत्व कहाँ से पालिया? यह प्रश्न भी ध्यान देने योग्य है। यह अनुमान किया जा सकता है कि कालान्तर में बौद्ध वचनों के विस्मरण की ओर चलने पर उनके रक्षणकार्य के प्रति यथावत् जागरूक बौद्धों ने जिस प्रकार उनके अर्थ के प्रति उसी प्रकार शब्द के प्रति भी समवधान दिया। बौद्धकोविदों के मन में शब्द और अर्थ दोनों के समप्राधान्य ग्रहण कर लेने पर, यह कोई आश्चर्य नहीं, उन दोनों में से एक ही ने वाचकता प्राप्त

करली हो। कुछ भी हो, कैसे ही हुआ हो, हमें यह बात तो निर्विवाद प्रतीत होती है कि 'पालि शब्द', मूल ग्रन्थवाचकता को वहन करता हुआ भी, कालक्रम से उसकी भाषा के वाचकत्व को प्राप्त हुआ

यह पूर्व ही निवेदित किया जा चुका है कि प्राच्य और प्रतीच्य दोनों विद्वानों ने पालि शब्द की निरुक्ति (etymological explanation) में अप्रतिम प्रतिभा प्रदर्शित की है। कोई पाटलिपुत्र के पाटलि शब्द से पालि शब्द को व्युत्पन्न मानते हैं। दूसरे 'पल्लि' से पालिशब्द की उत्पत्ति मानते हैं तथा अन्य मगध के प्राचीन अभिधान 'पलाश' से पालिशब्द का अवतार समझते हैं। अधिक क्या कहा जाय जब कि 'पलेष्टाइन'; 'प्लेटिन' इत्यादि पदों से भी पालिशब्द का सम्बन्ध जोड़ लिया जाता है। पालिवैयाकरणों ने 'सद्दत्थं पालतीति पालि' कहा है। व्याकृति-निरतों (grammarians) का यह निरुक्त चाहे कल्पनाप्रसूत ही हो, हम यह नहीं कह सकते कि यह सर्वथा असंगत है।

अतः हमें इस का ध्यान रखना चाहिए कि पालिशब्द भाषा विशेष का बोधक है। पालि नामक भाषा है। उसी भाषा में बौद्धों के मूल धर्म ग्रन्थ लिखे हुए मिलते हैं। इस भाषा ने स्व अभिधान (appallation) जन या जनपद नाम से नहीं लिया। पालि शब्द सबसे पहले मूल ग्रन्थ के अर्थ में प्रयुक्त किया गया था। तदनन्तर कालक्रम से उसने मूल ग्रन्थ की भाषा का द्योतन भी प्रारम्भ कर दिया।

जातक ?

आज कल दो प्रकार के बौद्धागम समुपलब्ध हो रहे हैं। उनमें से एक तो संस्कृत वाणी में हैं दूसरे पालि भाषा में। जो पालि भाषा द्वारा समुद्ग्रथित हैं वे ही आगम हैं और वे ही प्राचीनतर एवं प्रामाणिकतर हैं। वे 'बुद्धवचन' के नाम से समादर पाते हैं। कालक्रम से प्रधानभाव के साथ बौद्धमत 'महायान' और 'हीनयान' नाम से द्वैविध्य को प्राप्त हो गया। बौद्ध भी द्विविध हो गये। पालि शासन का अनुरोध करने वाले दाक्षिणात्य (southerly) बौद्ध सिंहल, ब्रह्म आदि देशों में आज तक भी मिलते हैं। चीन-महाचीन प्रभृति जनपदों में जो बौद्ध रहते हैं वे उससे इतर बुद्धानुशासन और सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

सम्प्रधारण-सौकर्य के लिए (for easy deliberations) पालि भाषा में लिखे हुए ग्रन्थ दो भागों मे स्थापित किये जा सकते हैं। पहिले धर्म ग्रन्थ है, दूसरे व्याकरणादि शास्त्रीय विषयों के ग्रन्थ। धर्म ग्रन्थ "त्रिपिटक' नामक भागों में विभक्त मिलते हैं। वे ये हैं (१) विनयपिटकम् (२) सुत्तपिटकम् (सूत्रपिटकम), (३) अभिधम्मपिटकम् (अभिधर्मपिटकम्)

(१) विनयपिटक यहाँ बौद्ध संघ के भिक्षुओं के समुपयुक्त अनुशासनों का निरूपण किया गया है। यह संग्रह विक्रमाब्द के तीन शतक पूर्व ही समुपनिबद्ध हुआ था। इसके तीन भाग हैं

(क) सुत्तविभङ्ग (ख) खन्धका (स्कन्धकाः) (ग) परिवारपाठः

(२) सुत्तपिटक यह पिटक भगवान् बुद्ध का प्रवचनरूप है। विक्रमाब्द से ढाई शताब्दी पूर्व इसका प्रादुर्भाव हुआ था, ऐसा विद्वानों का मत है। इस पिटक में पंच निकाय हैं:

(क) दीघनिकाय (दीर्घनिकाय)

(ख) मज्झिमनिकाय (मध्यमनिकाय)

(ग) संयुक्तनिकाय (संयुक्तनिकाय)

(घ) अङ्गुत्तरनिकाय (अङ्गोत्तरनिकाय)

(ङ) खुद्दकनिकाय (क्षुद्रकनिकाय)

(३) अभिधम्मपिटक (अभिधर्मपिटक)

इस पिटक का क्या रूप या प्रयोजन है, इस विषय में विपश्चितों (scholars) का मतभेद है। उनके मतों की आलोचना इस परिणाम पर ले पहुँचती है कि यह सुत्तपिटक का दार्शनिक प्रतिरूप है। निकायपंचक में भगवद्गुणा जो अर्थ प्रवचनरूप से उपलब्ध हैं, वे ही यहाँ शास्त्रीय ढंग से निरूपित किये गये हैं। इसके इतने विभाग हैं

(१) धर्मसङ्गणि (२) विभङ्ग (३) धातुकथा (४) पुग्गलपञ्ञत्ति (पुद्गलप्रज्ञप्ति) (५) कथावत्थु (कथावस्तु) (६) यमक (७) पट्ठान (प्रस्थानम्)

यहाँ हमारा इन सब से विशेष प्रयोजन नही है । इसलिए विस्तार की आवश्यकता नहीं । सूत्रपिटक में जो पंचनिकाय हैं उनमे से अन्यतम (last) क्षुद्रनिकाय हैं । इस निकाय में नीचे लिखे ग्रन्थ हैं:—

(१) खुद्दकपाठ (क्षुद्रक पाठ)
(२) धम्म पदम् (धर्म पदम)
(३) उदानम्
(४) इति वुक्तकम् (इतिवृत्तकम)
(५) सुत्तनिपात (सूत्रनिपात)
(६) विमानवत्थु (विमानवस्तु)
(७) पेतवत्थु (प्रेतवस्तु)
(८) थेरगाथा (स्थविरगाथा)
(९) थेरीगाथा (स्थविरागाथा)
(१०) जातकानि

दशम शब्द उन्ही जातकों का वाचक है जो हमारे पालिजाक संग्रह में उपलब्ध हैं । बुद्ध के वचनों में 'खुद्दनिकाय' (क्षुद्रनिकाय) नामक जो सूत्रपिटक का अन्तिम विभाग है उसके दशम अंग में 'जातक' समुपनिवद्ध है ।

जातक शब्द का अर्थ है जन्म सम्बन्धी । विकासवाद के अनुसार एक फूल को विकसित होने के लिए, उस पुष्प की जाति विशेष के अस्तित्व मे आने में लाखो वर्ष लग जाते हैं । तब

क्या कोई भी प्राणी साठ या सत्तर, अधिक से अधिक सौ वर्ष के जीवन में बुद्ध बन सकता है। उसे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक जन्म धारण करने ही होंगे। गौतम बुद्ध को भी धारण करने पड़े। बुद्ध होने से पूर्व अपने सब पिछले जन्मों तथा अन्तिम जन्म में उनकी संज्ञा बोधिसत्व रही। बोधि का अर्थ बुद्धत्व और सत्व का अर्थ प्राणी बुद्धत्व के लिए प्रयत्नशील प्राणी। जातक में बोधिसत्व के पाँच सौ सैतालीस जन्मों का उल्लेख है।

लेकिन बौद्ध तो आत्मा को नहीं मानते। जब आत्मा ही नहीं तो पुनर्जन्म कैसे हो सकता है? सामान्यता सभी अबौद्धदर्शन आत्मवाद के बिना जन्मान्तरवाद की कल्पना कर ही नहीं सकते। पुनर्जन्म प्रायः भारतीय दर्शन-सम्मत है। बुद्ध की शिक्षा की विशेषता यही है कि अनात्मवाद के साथ पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है।

तिपिटक में जिस जातक (ग्रन्थ) का समावेश है वह केवल गाथाओं का संग्रह है। जिस प्रकार धम्मपद एक चीज है और धम्मपद अट्ठकथा दूसरी, उसी प्रकार जातक एक चीज है और जातक अट्ठकथा दूसरी। अन्तर यह है कि धम्मपद का अर्थ विना धम्मपद अट्ठकथा के समझ में आ सकता है। जातक यद्यपि धम्मपद ही की तरह गाथाएँ मात्र हैं तो भी उन गाथाओं से, यदि पहले से कथा मालूम हो तो पाठक को वह कथा याद आ सकती है। यदि कथा मालूम न

हो तो अकेली गाथाओं से उद्देश्य पूरा नहीं होता। बिना ज्ञातकट्ठकथा के जातक अधूरा है।

जातक में केवल भगवान बुद्ध के पूर्व जन्मों से संबंध रखने-वाली गाथाएँ भर हैं, जातकट्ठकथा में अट्ठकथा सहित असल जातक कथाएँ आरम्भ होने से पहले निदानकथा नाम का एक लम्बा उपोद्घात है। इस निदानकथा में, सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के जीवनचरित्र के साथ उनके पूर्व के २७ बुद्धों का भी जीवन-चरित्र है। यह सारा का सारा बुद्धवंस से लिया प्रतीत होता है।

जातक की अट्ठकथा तीन भागों में मिलती है:

(१) दूरे निदान (२) अविदूरे निदान, (३) सन्तिके निदान।

बोधिसत्व ने जब सुमेध तपस्वी का जन्म ग्रहण कर भगवान् दीपङ्कर के चरणों में जीवन समर्पित किया, उस समय से लेकर 'वेस्सन्तर' का शरीर छोड़ तुषित स्वर्ग लोक में उत्पन्न होने तक की कथा 'दूरेनिदान' कही जाती है। तुषित लोक से च्युत होकर महामायादेवी के गर्भ से उत्पन्न हो बोधगया में बुद्धत्व प्राप्त करने तक की कथा अविदूरे निदान कही जाती है। जहाँ जहाँ भगवान् बुद्ध ने विहार करते समय कोई जातक कहा, उन स्थानों के जिन ग्रन्थों में उल्लेख हैं वे सन्तिके निदान हैं।

समस्त जातक कथाएँ दूरे-निदान के ही अंतर्गत आती हैं। हर जातककथा चार विभागों में विभक्त है (१) पच्चुपन्नवत्थु, (२) अतीतवत्थु (३) अत्थवण्णना, (४) समोधान। पच्चुपन्न-वत्थु का अर्थ वर्तमान कथा है अर्थात् उसमें भगवान् बुद्ध के समय की ही कोई घटना।

'अतीतवत्थु' भाग में ऐसे अवसर पर भगवान् द्वारा कही गई पूर्वजन्म की कथा होती है। स्मरण रहे कि प्रत्येक कथा में एक या अनेक गाथाएँ हैं। अत्थवण्णना में इन गाथाओं की व्याख्या (शब्दार्थ और विस्तृतार्थ) रहती है। समोधान सदैव अन्त में आता है जिसमें बुद्ध बताते हैं कि उन्होंने जो अतीतवत्थु सुनाई उसके प्रधान पात्र कौन २ थे; वे स्वयं उस समय किस योनि में उत्पन्न हुए थे।

कुल जातक कितने हैं? अर्थात् बोधिसत्व ने बुद्ध होने से पूर्व ठीक ठीक कितनी बार जन्म ग्रहण किया? यह कहना कठिन ही नहीं असंभव है। खुद्द निकाय के चरिया-पिटक में ३५ चरिया वा चरित्र हैं। संस्कृत बौद्ध साहित्य में जातकमाला नामका एक ग्रन्थ है, जिसके रचयिता आर्यशूर हैं। उस जातकमाला में कुल ३४ जातक हैं। थेरवादियों (सिंहल, स्याम, बर्मा, हिन्द चीन आदि देशों के बौद्धों) की परम्परा के अनुसार जातकों की संख्या ५५० है। जातकट्ठकथा में जातकों की संख्या ५४७ है। ये कथाएं २२ निपातों या परिच्छेदों में बँटी हैं।

जातकट्ठवण्णना की निदानकथा में ही एक महागोविन्द जातक का उल्लेख है, जो इन ५४७ जातकों में कहीं नहीं है। सूत्र-पिटक में भी महागोविन्द की जन्मकथा है, जो इस संग्रह से बाहर ही है। इससे अनुमान होता है कि जातकों की संख्या ५४७ से अधिक रही है। किन्तु यह संख्या (५४७) और किसी के लिए न सही, कम से कम थेरवादियों के लिए तो निश्चित ही है।

इन ५४७ जातकों में कई ऐसे हैं जिनकी स्वतन्त्र रूप से पृथक गणना भी हुई है, लेकिन वे किसी दूसरे बड़े जातक के अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त एक ही जातक की एक से अधिक स्थानों पर दो भिन्न २ नामों से गणना हुई है। एक ही जातक दो जगह एक ही नाम से आया है, किन्तु कथा भिन्न २ है। कहीं कहीं जातक एक हैं, केवल थोड़ा नाममात्र का भेद ही पाया गया है। इससे मानना होगा कि जातकों की ठीक संख्या ५४७ न होकर, काफी कम है। यदि जातकों की गिनती न करके केवल कथाओं तथा उपाख्यानों का ही हिसाब लगाया जाय तो जातकट्ठकथा के अन्तर्गत कुल २ हजार कथाएँ होंगी।

जातककथा संसार के कथा साहित्य में प्राचीन संग्रह ही नहीं, सर्वापेक्षा बड़ा भी है। मूल 'जातक' में केवल गाथाएँ होने के कारण स्वभावतः जातकट्ठकथा में भी जातक-कथाओं का

वर्गीकरण गाथाओं के अनुसार हुआ है। जातकों में विषय क्रम से कोई वर्गीकरण नहीं है।

जातकों के नामकरण में कुछ का नामकरण तो उस जातक में आई गाथा के पहले शब्दों का ध्यान रख कर किया गया है जैसे 'अपण्णक जातक' किसी का प्रधानपात्र के अनुसार जैसे 'वक जातक'; किसी का मुख्य विषय के अनुसार जैसे 'वण्णुपथ जातक;' और किसी का बोधिसत्त्व के जन्म ग्रहण करने के आधार पर जैसे 'कुरुंगमिग जातक,' 'सस जातक' आदि इन कथाओं का अंतिम संग्रह वा संपादन किसी के भी हाथों हुआ हो किन्तु इनकी रचना में तथा इनके जातकट्ठकथा का वर्तमान रूप धारण करने में शताब्दियाँ लगी होंगी। जातकों का कुछ न कुछ उल्लेख तो स्थविरवाद तथा महायान के प्राचीनतम साहित्य मे है। उनकी यथार्थ संख्या कहना कठिन है। संभव है कि इन कथाओं में से अनेक भगवान् बुद्ध से पूर्व की हो। बुद्ध ने अपने उपदेशों में उनका उपयोग भर किया हो।

तिपिटक मे इन कथाओं में से कुछ तो स्वतंत्र रूप से आई हैं। सारे तिपिटक का वर्तमान स्वरूप कब स्थिर हुआ, इसक बारे में कोई निश्चित बात कह सकना बहुत कठिन है। महावंस के मतानुसार ईसा की प्रथम शताब्दी में सिंहल मे राजा वट्ट-गामणी के समय अट्ठकथाओं सहित सारा तिपिटक लेखबद्ध हो गया था। किन्तु अनेक कथाओ को भरहुत के स्तूपों पर उनके नाम के साथ अङ्कित पाया गया है। इससे प्रमाणित किया

गया है कि कुछ जातक कथाएँ कम से कम ईसा के पांच शताब्दी पूर्व ही विरचित हो चुकी थीं और तिपिटक की अर्वाचीनतम कथाएँ ईसा की द्वितीय शताब्दी के पश्चात् की नहीं हैं। अतः यह जातक संग्रह कम से कम २ हजार वर्ष पुराना तो है ही।

यह तो रहा जातकों का प्राचीनता संबंधी महत्त्व। उपयोगिता की दृष्टि से भी जातक अपना परम महत्त्व रखते हैं। जितना जातक साहित्य का विस्तार है उतनी ही उनमें उपदेशपरकता और मनोरञ्जकता भी है। मानव जीवन का कोई भी पहलू इन कथाओं से अछूता बचा प्रतीत नहीं होता। यही कारण है कि पिछले दो सहस्र वर्षों से जातक कथाएँ मनुष्य समाज को किसी न किसी रूप में प्रभावांकित करती आई हैं।

किसी भी जाति का काम केवल परलोक-परक होने से नहीं चल सकता। भगवान् बुद्ध ने इहलोक तथा परलोक चिन्ता में समत्व स्थापित किया। यही कारण है कि जातक कथाओं को बौद्धसाहित्य में महत्वपूर्ण स्थान मिला और उनका विकास हुआ। जातक साहित्य जन-साहित्य के सच्चे अर्थों में जनता का साहित्य है। इसमें हमारे उठने बैठने, खाने-पीने, ओढ़ने-बिछाने की साधारण बातों से लेकर हमारी शिल्पकला, कारीगरी, व्यापार की चर्चा के साथ हमारी अर्थनीति, राजनीति तथा हमारे समाज के संगठन का विस्तृत इतिहास भरा पड़ा है। यही नही उस युग के भू-वृत्त की भी पर्याप्त सामग्री है, विशेषतः उस युग के जल मार्गों तथा स्थलमार्गों की।

भारतीय जीवन का कोई पहलू ऐसा नहीं जिसका लेखा इन कथाओं में न मिलता हो। यदि भविष्य में हमारा इतिहास राजाओं की जन्म-मरण तिथियों का लेखामात्र न रहकर जनता के जन्म-मरण के इतिहास के रूप में यथार्थ ढंग से लिखा जाने को है, तो प्राचीन काल के वैसे इतिहास के लिए इन कथाओं का मूल्य बहुत ही अधिक है। यदि मनोरञ्जन के साथ र उपदेश ग्रहण करना हो, यदि हृदय को उदार तथा शुद्ध बनाने वाली कथाओं के साथ साथ बुद्धि को प्रखर करने वाली कथाएँ पढ़नी हों; यदि अपने देश की प्राचीन आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था से परिचित होना हो तो जातक से उत्तम दूसरा साहित्य नहीं है।

होली

गिरा--यंत्र की थिरकन से बह कर गीत-संगीत की ललित लहरियां अन्तरिक्ष के उर से लहरा रही हैं। गलियां और सड़कें तक नृत्यशालाएं बन रही हैं। पिचकारियाँ उत्स--हृदय का तरल उद्रेक--सा सजा रही हैं। अबीर धूलि से मिल रहा है। वचनावली उच्छृंखलता बिखेरती है। शैशव में अबोध उल्लास, यौवन में उन्माद और जरा में स्फूर्ति है। शर्वरी जगती है और दिवा सोती है। विलास और वेदना दोनों व्याकुल हैं, एक संयोग मे और अन्य वियोग में। वस्त्रों में चमक है और भूषणों में मधुर झंकार। अलकों की सुवास बधाई बांट रही है और उत्तेजना की झाड़ियां हृदय की विह्वलता बन रही हैं। क्यों न हो यह सब ? होली जो आगई! परन्तु, लेखक के हृदय में एक टीस लेकर। नीरज की स्मृति का करकानिपात लेकर! होली मुझे तेरा यह रूप प्रिय नहीं। तू अपने इस रूप में हत्यारिन है। एक, दो, तीन, चार हां चार दिन पीछे पूरे चार वर्ष बीत जांयगे। ओह! वह भयंकर स्मृति भारी वेदना!! होली! तू न आती तो अच्छा था! न न न, तू कभी मत आना! क्या तुझे याद नहीं कि तेरी कुरूपता की पिशाचिनी ही तो मेरे बाल-सखा को खागई थी ? धूल, कीच डन्डे, न जाने, उस पर क्या क्या पड़े ? कनपटी फूट गई और वह सदा के लिए चल बसा। तूने अखिल परिवार को रुलाया! सपुत्रा को अपुत्रा और सधवा को विधवा किया।

तेरे साथ ही साथ नीरज की कोमल काया चिता की होली में देखते देखते भस्म हो गई। मैं देखता रह गया। शोक कि मेरा प्रस्तर-हृदय विदीर्ण न हुआ, परन्तु उसकी स्मृति की गहरी रेखा उस पर बन गई है। जब जब तू आती है वह और भी गहरी हो जाती है। इसीलिए मैं कहता हूँ 'तू न आ'।

सामान्यता की आँखों को ऐसे कितने ही नीरज दीख पड़ेंगे। होली के इतिहास मे ऐसी अनेक दुर्घटनाएं मिल सकेंगी। दुर्घटनाएँ इसलिए कि होली का रूप हमने बिगाड़ दिया है, उसके महत्व को हम भूल गए हैं। देव मूर्ति (प्रस्तर मूर्ति) की तरह उसकी प्रतीकता का हमें ध्यान नहीं है। हमारे अज्ञान के कारण प्रतीक ही प्रतीयमान बन बैठा है। यों तो बहुत से त्यौहारों का वास्तविक गौरव अज्ञान मे विलीन होगया है, परन्तु होली का रूप बुरी तरह बिगड़ा है।

'अच्छे' का 'बुरे' में परिवर्तित हो जाना हमारी हीनता का लक्षण है। बुराई हमारे कुविचार, अज्ञान का परिणाम है। कुविचार न केवल हमे अँधेरे मे ले जाता है अपितु दुष्कृतियों का जनकत्व और नेतृत्व भी प्राप्त करता है। कुविचार से मानव में दानव का प्रवेश हो जाता है, सुरूप कुरूप बन जाता है, और मंगल अमंगल का ग्रास बन जाता है। वह हमारे लिए गर्त खोदता चलता है और हम अंधे की भाँति अचेत होकर उसमें गिरते चले जाते हैं। चोट खाते हैं, रोते हैं, कराहते हैं, सिसक कर

रह जाते हैं फिर भी आँखें नहीं खोलते। बचने का उपक्रम नहीं करते! शोक कि अनिष्ट को ही इष्ट मान बैठे हैं। शोक कि आँखों वाले होकर अँधे बन गये है। हम अपने परों में स्वयं कुठार मारते हैं, पंगु बन गये हैं, बेड़ियां टूट गई तो क्या? हम चल नहीं सकते क्योंकि हमारी सुगति रुक गई है। स्वातंत्र्य का उपभोग करनें के लिए, उससे प्रकृत सुख पाने के लिए हमें कुविचार को भस्म करना होगा, सुमार्ग को खोजना होगा तब हमें लक्ष्य प्राप्त होगा, इष्टसिद्धि होगी।

होली अपने पौराणिक वेश में अधर्म पर धर्म की विजय का प्रतीक है। होली का दिन हमें भक्तवर प्रह्लाद और उसके दानव जनक का स्मरण दिलाता है। दोनों का संघर्ष विशेष होते हुए भी सामान्य संघर्ष का द्योतक है। वह मानव में देव और दानव, सत् और असत् का संग्राम है। प्रह्लाद की रक्षा सत् की विजय है। सत् का स्मरण बनाये रखने के लिए, उसका सम्मान करने के लिए हम उत्सव मनाते थे। अथवा वर्ष के सञ्चित पापों को सुविचार की पावक में भस्म करके धर्म का परिमार्जन करते थे और करते थे अपने को पावन बनाने का सङ्कल्प जिसका सामूहिक (सामाजिक) रूप इस अवसर पर यज्ञोत्सव के रूप में उदित हुआ।

प्रश्न हो सकता है कि भारतीयों ने इस सङ्कल्प के लिए, इस उत्सव क लिए यह दिन, यह समय ही क्यों निश्चित किया; यह तो कभी भी हो सकता था। परन्तु यहां मानव की अनुकरण-

वृत्ति का स्मरण रखना होगा। मानव सामाजिक प्राणी है। उसकी अनुकरणवृत्ति उसे प्रेरणा करती रहती है। उसके अनुकरण की आँखें प्रकृति सुन्दरी पर पड़ीं। उसने देखा कि इस अवसर पर प्रकृति अपने भव्य यौवन में प्रकट होती है। विकार (कुरूपता) को त्याग कर वह पावन सौन्दर्य का वरण करती है। सुमन शृङ्गार बनते हैं और गन्धोत्सव अन्तरिक्ष के आंगन में मनाया जाता है। लताएं पवन पर पराग-वर्षा करती हैं। कलियां मुस्करा कर अलियों से रस-केलि करती हैं। सरोवर के उर में उमंगें उठती हैं। समीरण उन्माद से इठलाता है। फूलों की गांठ से हँसी खुल पड़ती है। सुरभि-राशि को शून्य अपनी झोली में भर लेता है। मुकुलित कलिकाएं भ्रमरों से प्रेम कथाएं सुनती हैं। लतिका के घूंघट से कुसुमावलि की मधु-चितवन-धारा मानव मन-अजिर को रसाप्लावित करती है। मानव द्वारा प्रकृति के आमोद और उल्लास का अनुकरण ही होली के इतिहास का मूल है। प्रकृति से निकट सम्बन्ध होने के कारण मानव ने भी उसके उल्लास में अपना सहयोग देने के लिए वही समय उपयुक्त समझा।

यह अमान्य नहीं है कि 'सुन्दर' द्वारा आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। 'असुन्दर' के दाह (विनाश) और 'सुन्दर' के विकास से आनन्द का प्रतिफलन होता है। सौन्दर्य आनन्द का सहकारी भाव होने से मानव ने आनन्द की प्राप्ति के लिए, सुन्दर के मोक्ष के लिए, बाह्य एवं आन्तरिक 'असुन्दर' का दाह

अनिवार्य समझा और आर्य संस्कृति ने यज्ञों को 'दाहक' का प्रतीक मानलिया। बस, होली चल पड़ी। जैसे-जैसे संस्कृति में विकारों का विनिवेश होता गया होली का रूप भी बिगड़ता गया। यही कारण है कि होली आज इतनी विकाराच्छन्न दीख रही है।

उत्सव का एक और कारण जो होली के इतिहास का अति-संभव अङ्ग दीख पड़ता है, वह है भारत की कृषि-प्रधानता। कृषक चैत्रमास में अपने श्रम को नवान्न के रूप मे साकार पाता है। खेतों से अन्न के खलियानों में लाने से पूर्व वह हर्षोत्सव मनाता है और नवान्न की हवि-द्वारा वह अपने इष्ट का आराधन करता है। सब कृषक आपस में मिलकर उत्सव को समारोह प्रदान करते हैं। अतएव होलिकोत्सव का आयोजन।

होली के संभाव्य कारणो से उसका वर्तमान रूप बिल्कुल मेल नही खाता। कुरीतियों और कुविचारों पर धूल डालने के बजाय हम अपने साथियों पर डालते हैं। अज्ञान को ज्ञान मे, पाप को पुण्य में दग्ध करने के स्थान पर छप्पर, किवाड़, मेज आदि जलाते हैं। आज हम यज्ञों को भूल गए और दारु-राशि को जिसमें अनेकों कीड़े मकोड़े, और पक्षी घर बनालेते है, जला कर हत्या का भार शिर पर लादते हैं। काला मुख करके गधे पर चढ़ना, मद-विचूर्ण होकर नालियों मे गिरना, ईंट पत्थर या डंडो की मार से आमोद-प्रमोद को अभिव्यक्त करना आदि विभी-

षिकाएं किस देश की संस्कृति में सम्मान्य हो सकती हैं ? इनसे न केवल भारतीय धर्म और समाज लाँछित होता है, वरन् मानवता के शिर पर दूषित कलंक लगता है। भारत के नाम को ऊँचा करने के लिए हमें चाहिए कि अपनी कुरीतियों का परित्याग करके अपने त्यौहारों का सांस्कृतिक रूप प्रस्तुत करें। वही वास्तविक सौन्दर्य का प्रदर्शन और आनन्द का अभिव्यंजन होगा।

भक्ति का स्वरूप

भक्ति एक भाव है जो स्थायी होने की दशा में चर्वणावस्था तक पहुँच कर रससंज्ञक हो जाता है। इसमें प्रेम, श्रद्धा और सेवा का समन्वित रूप निखरता है। ये तीनों ही अपने अपने ढंग के भाव हैं। इनमें से किसी में भी, चरम सीमा पर, शेष दो का समावेश अनिवार्य है। प्रत्येक भाव अपने प्रवाह-रूप में आलंबन में सन्निवेश प्राप्त करता है। सहज सन्निवेश की दशा में यह प्रवाह सुखद होता है। प्रवाह में कैसा भी अवरोध होने पर मूल भाव सुख में व्याघात का आगम होने से वह दुःख-कन्द में प्रवेश करने लगता है। याद रखने की बात है कि आलंबन की संगति से मूल मनोभाव 'सुख' स्वयं एक स्थिति विशेष में 'आनन्द' बन जाता है। यह वह अवस्था होती है जिसमें आश्रय सौन्दर्य से खिंचकर सत्य शिव की खोज करता है और अपनी तन्मयता के कारण कीट-भृंग न्याय से सत्य शिव बन कर समान सौन्दर्य प्राप्त कर लेता है। कबीर ने यही तो बताया है:-

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन हौं गई, मैं भी ह्वै गई लाल॥

अस्तु, सेवा, श्रद्धा और स्वयं प्रेम में आधार एक ही है। आश्रय के मानस में एक प्रेम तत्व ही काम करता है। अपनी

प्रारंभिक दशा में प्रेम आलंबन को पाने का एक साधन मात्र रहता है, किन्तु आलंबन को पाना ही तो बस नहीं है। यदि वह निधि खोगई, तब? अतएव यहां अकेला 'योग' सिद्धांत ही काम नहीं करता, क्षेम का आश्रय भी अनिवार्य है। 'प्राप्तस्य रक्षणम्' को गाँठ में बाँधकर चलना होता है, क्योंकि हम इस जगत में देखते हैं कि संयोग के अनन्तर भी वियोग हो जाता है। जब तक आलंबन ही प्राप्तव्य बना रहता है, तब तक आश्रय के मानस को पावन नहीं मान सकते, क्योंकि स्वार्थ भाव अपने किसी न किसी रूप में काम करता है; किन्तु जब आलंबन सूक्ष्म और व्यापक बन जाता है अथवा यों कहिये कि जब प्रेम और आलम्बन एक रूप में दीख पड़ते हैं प्रेम का साधनत्व साध्यत्त्व में परिणत हो जाता है, तब आश्रय भी उनसे अपनी पृथक् सत्ता का अनुभव नहीं कर पाता। यह आश्रय के प्रेम की वह उमड़ती हुई गंभीरता होती है जिसमें आलम्बन और आश्रय दोनों निमग्न हो जाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि आलंबन के भाव की भी उतनी ही, गहराई हो; किन्तु आश्रय के प्रेम की उदारता की आलंबन के भाव सीमा नहीं बन सकते।

लौकिक प्रेम के क्षेत्र में आलम्बन की भाव-गंभीरता के संबंध में हमें शंका करने का अवसर मिल सकता है किन्तु अलौकिक आलंबन के संबंध में शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता, क्योंकि वहाँ तो 'आदर्श' का राज्य होता है। भक्ति तो लौकिक

प्रेम है नहीं क्योंकि लौकिक प्रेम में उतनी उदारता नहीं होती। लौकिक प्रेम में ध्यान का अवलम्ब विषय होते हैं। विषय-चिन्तन करने वाले का मन विषयों में आसक्त होता है। अतः विषयों के सम्बन्ध में प्रेम का जिक्र करना मानों प्रेम को कलुषित करना है। जब विषयों के प्रति होने वाली चरमासक्ति भगवच्च रणों में सन्निहित करदी जाती है तब वह कल्याणकारिणी अथवा आनन्ददायिनी बन जाती है। भागवत में भगवान् कृष्ण ने कहा भी है.

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

भाग. ११. १४. २७

प्रेम की यह स्थिति ही अनन्य कहलाती है, क्योंकि भगवान् नारद ने भी कहा है

अन्याश्रयाणां त्यागो ऽनन्यता।

ना. भ. सू. १०

उस प्रेम की प्रकृति (स्वरूप) का निरूपण करते हुए शाण्डिल्य ऋषि कहते हैं

"आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः"

आत्मरति के अविरोधी विषय में रति होना ही भक्ति है।"
शंकर भी इसी का समर्थन करते हुए कहते हैं:

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥

नारद भक्ति को 'सातु परमप्रेमरूपा' बतलाते हैं। पहले कहा जा चुका है कि 'परमप्रेमरूपा' होने की दशा में ही 'चिन्मय सत्य' आनन्द रूप में अभिव्यक्त होता है । अलौकिक की लौकिक अभिव्यक्ति के संबंध में भारतीयों ने 'व्रजगोपियों' को उदाहरण मान रक्खा है 'यथा व्रजगोपिकानाम्'

कुछ लोग 'परमप्रेम' को महान्ध (love is blind) भी कह देते हैं, किन्तु आलंबन के माहात्म्य का ज्ञान न होने की दशा में प्रेम किसी को भी आलंबन मान सकता है, अतः आलंबन की सर्वोत्कृष्टता वाधित होती है । जहाँ सर्वोत्कृष्टता का वाध हुआ कि मन की अविभाज्यता भी विलीन हुई । फिर भला अनन्यता कहाँ रह सकेगी ? इसलिए प्रेम को अंधा कह देने से भक्ति का समस्त सिद्धान्त सौध ही भग्न हो जाता है । गोपियाँ जिनमें भगवान् के प्रति प्रेम अपने परम रूप में तरंगित हो रहा था, उनके (श्री कृष्ण के) प्रभाव, रहस्य और गुणों को जानती थीं । वे उन्हें साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् जानती हुई ही अपना प्रियतम समझती थीं । माहात्म्यज्ञान के बिना कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम की स्थिति मानकर उसकी सराहना करना आत्मवंचना मात्र है, क्योंकि ऐसे प्रेम में जारों के प्रेम से कुछ

विशेष बात नहीं दिखाई दे सकेगी ! जार-प्रेम और भक्ति में प्रथित अन्तर यह है कि पहले में स्वसुख से सुखित्व की कल्पना की जाती है और भक्ति में प्रियतम के सुख से। महात्मा तुलसीदास लक्ष्मण के मुख से इस रहस्य का उद्घाटन इस प्रकार कराते हैं: 'घाव मेरे हिये पीर रघुवीरै'।

विनय पत्रिका

विनय पत्रिका गोस्वामीजी की सुप्रौढ़ रचना है। यहाँ प्रौढ़ता भाषाविषयक ही नहीं, भावविषयक भी है। यह उनकी जीवन-गोधूलि में प्रकट हुई विमल, शीतल ज्योति है। जीवन की कटुता से आतुर होकर गोस्वामीजी शरण खोजते हैं और वह उन्हें विश्व में कहीं नहीं दीख पड़ती। गिरते-पड़ते ठोकरें खाते वे भगवच्चरणों की ओर आते हैं। उन्हें यह प्रतीत हो चुका है कि उन चरणों की शरण सब से बड़ी है। वे जानते हैं कि भव संत्रस्त जीवों का उद्धार वहीं संभव है और उन्हें वहीं रहने की इच्छा होती है। परन्तु क्या वे इस योग्य हैं जो उन चरणों का सान्निध्य प्राप्त कर सके? इस प्रश्न से गोस्वामी जी की निद्रा टूट जाती है; किन्तु वे अपनी अयोग्यता से परिचित होने के कारण हताश नहीं होते। वे इष्ट के गौरव से भी भली भांति अवगत हैं। अनन्त शक्ति-सौन्दर्य समन्वित अनन्त शील उनके अन्तर्लोचन में समा गया है। एक ओर उन्हें अपने दोष ही दोष दीख पड़ते हैं और दूसरी ओर उन्हें दीखती है प्रभु की अनन्त शीलविहित पवित्रता। दृश्य के इस लोभ से आत्म-परिशोधन का आयोजन स्वतः ही होने लगता है। प्रभु का सामीप्य जितना अधिक होता जाता है, सेवक को अपने लघुत्व का उतना ही अधिक अनुभव होने लगता है। दंभ, अभिमान, छल, कपट, आदि की प्रांतसीरा में छिपा हुआ उनका महत्व,

उसके विशीर्ण होने से उसके विलीन होने से सामने आजाता है। बस, यही अवसर हृदय के खुल जाने का है। प्रभु के महत्व और अपने लघुत्व के वर्णन से उसे समान आनन्द मिलता है। भाव की इसी भूमि पर विनयपत्रिका की नींव पड़ी हुई है।

विनय का अर्थ आवेदन, निवेदन या पुकार है और विनय पत्रिका कहते है अर्जी को। पुकार करने वाले हैं तुलसीदास और की गई है कलियुग के विरुद्ध। वह पत्रिका सर्वेश्वर महाराजाधिराज 'राम' के न्यायालय में भेजी जाती है। पत्रिका के भाव भक्ति-आश्रित और सामान्य-प्रतीति-मूलक हैं। निवेदक ने कलियुग की शिकायत की है सही, किन्तु उतने ही खुले शब्दों में उसने अपनी दुर्बलता को भी स्वीकार किया है। यह है इस विनयपत्रिका का महत्व। यदि तुलसीदास को प्रभु के शील की प्रतीति हुई होती तो शक्ति की प्रतीति विनयप्रेरक न बनी होती। आत्म-दुर्बलता की भावना के विरुद्ध भी प्रभु का शील विनयपत्रिका की प्रेरणा बना है।

संभवतः विनय पत्रिका के लिखने की प्रेरणा गोस्वामी जी को जगद्धर भट्ट की 'स्तुति-कुसुमांजलि' से मिली है। दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन इस उक्ति का बहुत कुछ समर्थन करता है। इस सत्य की स्थिति बहुशः शैली के अनुकरण में है। भट्टजी के कुछ भावों को भी गोस्वामी जी ने अपना लिया है।

सेवाभिनन्दन, शरणाश्रवण, कृपणाक्रन्दन, करुणाक्रन्दन, दीनाक्रन्दन, तमःसमन, प्रभु-प्रसादन, करुणाराधन, उपदेशन सिद्धि और भगवद्दर्शन के स्तोत्रों से विनयपत्रिका के भाव मिल जाते हैं; परन्तु विनयक्रम और व्यक्तीकरण के अतिरिक्त तुलसी की अनेक उद्भावनाओं में मौलिक सौन्दर्य है।

विनयपत्रिका की क्रमविषयक प्रेरणा कवि को न्यायालय की भावना से हुई है। महाराजा के हाथ तक पहुँचने के लिए अर्जी को अनेक दरबारियों के हाथों में होकर जाना पड़ता है; अतएव उनकी सद्भावना एवं सहानुभूति परमावश्यक है। बस, यही भावना पदक्रमपूर्वकपत्रिका के स्तुतिक्रम में काम कर रही है। बहु–देव-स्तुति इष्टाराधन का साधन मात्र है।

विनयारम्भ गणेशवन्दना से होता है, क्योंकि सिद्धि के अधिष्ठाता वे ही माने गए हैं। फिर तमः शमन के लिए, मोह-तिमिर के विनाश के लिए, भगवान् भास्कर की वन्दना की गई है। वे प्रकाशराशि होने से मंगल पथ के प्रदर्शक हैं। तदुपरान्त भैरव, पार्वती, गंगा, यमुना, काशी और चित्रकूट का यशोगान है। हनुमान जी को वकालत के लिए तैयार किया गया है। उनके सामने तुलसीदास के हृदय की ग्रन्थि मानो खुल पड़ी है। खुले शब्दों में कुछ उन्हें इस प्रकार सुना भी दिया है "ऐसी तोहि न बूझिये हनुमान हठीले"। इससे ऐसा अनुमान होने लगता है कि मानो तुलसीदास की हनुमान से पूर्वघनिष्ठता

हो। लक्ष्मण, भरत, और शत्रुघ्न तक पहुँचते पहुँचते सभी दरबारी सध जाते हैं। "महारानी सीता की विनय गोस्वामी जी ने आत्मीय के ढंग से की है। वे उनके अनुग्रह की छाया में अपने सम्बन्ध में राम से सिफारिश चाहते हैं और वह भी बड़ी युक्ति से

"कबहुँक अम्ब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुण कथा चलाइ"

ऊपर बताया जा चुका है कि विनयपत्रिका के कुछ छन्द तो दरबारियों इष्टेतर देवों की स्तुति में लिखे गए हैं और कुछ महाराजाधिराज (इष्टदेव) राम के आराधन में। अन्य देवों के स्तोत्रों में भी केवल रामभक्ति की याचना की गई है। इनमें गोस्वामी जी उतने गिड़गिड़ाते हुए प्रतीत नहीं होते। यहाँ कवि के दो काम है—इतरदेवों के गुणों का वर्णन और राम से उनके सम्बन्ध का प्रकटीकरण।

इस शैली मे एक मार्मिक भाव-तंत्र और दैन्य की शिष्ट भूमिका है जिस देव का जैसा पद है, तुलसीदास का उसके साथ वैसा ही सम्बन्ध है। उसके सामने उन्होंने उतना ही दैन्य प्रकट किया है अथवा यह भी कह सकते है कि इतरदेवों के स्तोत्रों में भक्त का दैन्य खुला नहीं, बिखरा नही, बंधा रहा है, मर्यादित रहा है। इसका कारण है कि ये इतरदेव तुलसीदास की महत्व भावना के सीमान्त नहीं है। उसकी पराकाष्ठा तो राम में

ही होती है। भावना की धारा उनसे आगे की ओर बहती रहती है। जैसे जैसे भावना इष्ट के अनन्त महत्व में लीन होती जाती है, दीनता बढ़ती जाती है। शनैः शनैः विनय की सातों भूमिकायें (दीनता, मानमर्षता, भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासना, मनोराज्य और विचारणा) अपना अपना सौन्दर्य लेकर प्रकट होती है। इनमें प्रभु-महिमा, औदार्य और शील के साथ साथ जीव के असामर्थ्य, आत्मग्लानि आदि का भी मार्मिक चित्र है।

कुछ विद्वान् विनयपत्रिका को प्रबन्धकाव्य मान लेते है। उनके मत से इसकी रचना यथाक्रम हुई है। वे इसमें एक आवेदनपत्र (अर्जी) के विषय-क्रम का अनुमान करते है। यह मान्य है कि देव स्तुति में क्रम है, किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि यहां घटना का भी क्रमिक विकास है। गुण-स्तुति के अनुरूप किसी भी घटना का कहीं भी स्मरण कर लिया गया है। प्रत्येक पद निरपेक्ष होने से इस रचना को स्फुट पदों का संग्रहमात्र ही कह सकते हैं। भिन्न भिन्न पदों में पृथक् पृथक् आलंबन का होना उनकी स्फुटता का प्रमाण है। रचना के नायक-का नायकत्व सम्बन्ध कल्पना के बल पर है, वस्तु व्यापार के आधार पर नहीं।

विनय की भूमिकाओं में दैन्य के स्तरों का जो आवर्तन दीख रहा है उससे उनमें किसी क्रमिक विकास का रूप नहीं बनता। यदि कलिकाल की शिकायत को एक घटना मान लें और उसी

को वस्तु-व्यापार का स्कन्ध समझलें तो तुलसीदास को नायक बनाना पड़ता है। कथा-वस्तु को लेकर चलने वाला ही तो नायकत्व का अधिकारी होता है। कलिकाल की शिकायत कोई घटना नहीं है। वह तो एक भाव है। भाव के आधार पर भी नायक की कल्पना हो सकती है, किन्तु प्रबन्ध काव्य के नायक की नहीं। प्रबन्ध में भाव के प्रवाह अथवा क्रमिक विकास के बिना, नायकत्व की कल्पना उचित नहीं है। परिक्रमण के कारण नायक में गति दीख पड़ती है किन्तु केन्द्रीकरण के कारण स्थिति या भाव में विकास नहीं है। दूसरी बात जो विनयपत्रिका के प्रबन्धत्व का विरोध करती है वह है उसकी गीतात्मकता। कुछ पदों को छोड़ कर जिनमें प्रारंभिक पद प्रमुख हैं, विनयपत्रिका के पद सुन्दर गीतों के प्रमाण हैं। वे संगीत और भाव दोनों की कसौटी पर पूरे गीत उतर सकते हैं। स्वानुभूति के प्रकाशन की प्रमुखता और वस्तु-निक्षेप के अभाव से इस रचना में सारे मुक्तक गीतात्मक ही हैं। प्रबन्ध की सिद्धि न होते हुए भी कविकला ने रचना में वह स्थिति और समता निष्पन्न कर दी है कि उसमें प्रबन्धत्व का आभास होता है।

अध्ययन और परीक्षा

अध्ययन किसी लक्ष्य को लेकर होता है। लक्ष्य के बिना अध्ययन का स्वरूप ठीक वैसा ही होता है जैसा उस यात्रा का जिसके सम्बन्ध में पथिक यह नहीं जानता कि मुझे कहाँ जाना है। यह मानते हैं कि पथ में भूलें हो सकती हैं। उनके सम्बन्ध में संशोधन किया जा सकता है, किन्तु लक्ष्य के न होने पर, स्थान के निर्दिष्ट न होने पर, पथ निर्दिष्ट कदापि नहीं हो सकता; अतः उसके संबन्ध में संशोधन का प्रश्न ही नहीं उठता; और निर्दिष्ट पथ पर चलना सुगम भी होता है; इसलिये विद्यार्थी का सबसे पहला काम यह है कि वह अपना लक्ष्य निश्चित करले, उसे भली प्रकार समझले; तब उसके लिये मार्ग पूछता, खोजता हुआ उस पर बढ़ा चले। यद्यपि सदैव यह संभव नहीं है कि विद्यार्थी अपने आप ही लक्ष्य का निर्णय करले; तो उस दशा मे उसके प्रेरकों का यह कर्त्तव्य बन जाता है कि उसके लिये उचित लक्ष्य प्रस्तुत करें। लक्ष्य का निर्णय, मैं समझता हूँ, मार्गानुसंधान से कहीं अधिक आवश्यक है। अस्तु, लक्ष्य का नर्णय विद्यार्थी का प्रथम सोपान है।

जब लक्ष्य निश्चित कर लिया जावे तो लक्ष्यार्थी उस पर पहुँचने का प्रयास करने लगे। उस प्रयास में साधक के सामने अनेक कठिनताएं प्रस्तुत होंगी। उस समय उसे घबराना नहीं

चाहिए, डिगमिगाना नहीं चाहिए। अविचल रहकर व्याघातों का सामना करना और आगे बढ़ना उसके पुरुषार्थ की शिक्षा का सर्व प्रथम, किन्तु प्रौढ़तम चरण होगा। इस अविचलता के लिये विद्यार्थी को अपने लक्ष्य में आस्था रखनी होगी, प्रकंपित या विचलित होकर वह अपने तीर से लक्ष्य-वेधन न कर सकेगा। उसे अपनी शक्तियों को उसी लक्ष्य के प्रति समाहित करना होगा। विकीर्ण शक्तियों से प्रज्ञा प्रतिफलित नहीं होती और न पुरुषार्थ ही सफल बन सकता है। इसलिये लक्ष्य पर पहुँचने के लिये मार्ग का अनुसंधान कर लेने पर साधक को, विद्यार्थी को, लक्ष्य में पूर्ण आस्था रखनी होगी।

अध्ययन के दो पहलू देखने में आते हैं: एक तो उसका वह पक्ष है जिसमें विद्यार्थी गुरु की सहायता से कुछ सीखता है, दूसरा उसका वह पक्ष है जिसमे छात्र स्वाध्याय से बल प्राप्त करता है। एक पक्ष में प्रेरणा बाहर से आती है, दूसरे मे वह अंतर से निकलती है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि पुस्तकीय ज्ञान जिसमें अन्तः प्रेरणा का हाथ नही होता जो विशुद्धतया बाह्यज्ञान है वह शिक्षण ही होता है। उसका रूप बाह्य प्रेरणा का ही समझना चाहिए, उसमें अन्तः प्रेरणा नहीं रहती। शिक्षण जब मनन के साँचे में ढल जाता है तब उसको स्वाध्याय का नाम दे सकते हैं। विद्यार्थी को जितनी शिक्षा की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक स्वाध्याय की आवश्यकता है। दोनों अवस्थाओं में चिंतन और मनन के साथ साथ आस्था

को संवेत करना होगा आत्म-विश्वास और श्रद्धा को समक्ष रखना होगा।

अध्ययन की परिधि यहीं समाप्त नहीं हो जाती। लेखन क्रिया भी अध्ययन ही के वृत्त में आती है। जो कुछ पढ़ा है अथवा सोचा है उसको जब तक विद्यार्थी लिख नहीं लेता तब तक वह कृतकार्य नहीं होता। अध्ययन में पूर्णता लेखन ही से आती है। अंग्रेजी में भी कहा गया है कि Writing maketh a man perfect; किन्तु जब विद्यार्थी लिखने लगे तो उसे ध्यान रखना चाहिए कि वह अपनी चिंतना को रूप प्रदान कर रहा है। कहीं ऐसा न हो कि उसकी विचारणा कुरूपता से लांछित हो जाय; इसलिये जहाँ वह यह देखे कि वह अपने भाव को कुरूपता से बचा रहा है वहां यह भी देखे कि वह उसमें सुन्दरता भी सन्निविष्ट कर रहा है। सुन्दरता वर्णसम्बन्धी ही नहीं होनी चाहिए, वरन् भाव-व्यवस्था और अलंकरण में भी उसका पुट देना चाहिए, जिससे न केवल देखने वाला ही प्रसन्न होकर वाह वाह कह उठे अपितु सुनने वाले का मन भी खिल उठे। सुन्दर चुने हुए शब्द वाक्य में सुन्दर ध्वनिमय स्थान पाकर अभिप्राय को सुन्दर बनाने में बड़े सहायक होते हैं; इसलिये विद्यार्थी का कर्तव्य है कि लिखते समय वह बलिष्ठ शब्दों का प्रयोग करे। जहाँ तक हो सके शब्दों के साथ मितव्ययता का व्यवहार करे और अपनी शैली द्वारा व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करता चले। उसे एक बात का ध्यान रहे कि विद्यार्थी उस समय लेखक है और शैली

उसके व्यक्तित्व का आवश्यक अङ्ग है। यदि वह शैली को भूलता है तो समझिये कि वह अपने व्यक्तित्व को भूलता है।

छात्र के सामने अनेक बातें आती हैं, अनेक पुस्तकों से वह अनेक भाव एवं प्रोत्साहन ग्रहण करता है। वहां उसे सब कुछ ही ग्रहण नहीं कर लेना है, सब कुछ देखकर भी उसे कुछ न कुछ छोड़ देना होता है। केवल आवश्यक बातें ग्रहण करनी होती हैं। इस अवस्था में उसे एक चतुर माली का काम करना होता है। चतुर माली उद्यान में सब कुछ नहीं रहने देता। कहीं से वह घास को निकाल देता है, किसी पौधे की पीठ को छांट कर शुद्ध कर देता है और किसी की छतरी को कतर देता है। इस प्रकार वह उद्यान को सुन्दर और मनोहर बना देता है। देखनेवाला देखकर वाह-वाह किये बिना नहीं रहता, किन्तु कौनसे पौधे को कहां से छाँटना है, यह चतुर माली ही जानता है और यह चतुरता बहुत कुछ उसकी सौंदर्य भावना मे सन्निहित रहती है। योग्य छात्र भी परीक्षा की दृष्टि से कुछ बातें छाँट लेता है। वे उसके लिये किसी न किसी दृष्टिकोण से उपयोगी सिद्ध होती हैं।

जब वह इतना कर लेता है तब समझिये कि वह परीक्षा देने के लिये तैयार हुआ है। जब वह परीक्षा भवन में जाये तो उसे विश्वास रहना चाहिए कि वह परीक्षा का अधिकारी है। उसके लिये उसने योग्यता प्राप्त की है कोई अनाधिकार

चेष्टा करने नहीं जा रहा है। उसे सिद्धि तो पहिले ही मिल चुकी है, केवल परीक्षा फल के रूप में उसके अभिव्यक्त होने का काम रह गया है; उसी अभिव्यक्तीकरण के लिये वह परीक्षा में बैठ रहा है। उसे ध्यान रहे कि सच्चे नागरिक के रूप में वह योग्यता का परिचय दे रहा है। परीक्षा स्वर्ण तक को पिघला देती है। वह भी ("कांपि उठ्यो पानी भयो देखि परीक्षा काल") अग्नि परीक्षा में प्रकंपित हो जाता है। वह जड़ है, हम चेतन विद्यार्थी की बात कर रहे हैं। यहाँ काँपने की बात क्या है? उस जड़ सोने में कुंदनता नहीं थी, अपावनता का भय था; इसलिये काँप गया होगा। वह छात्र जिसने बड़े अध्यवसाय और तपस्या से कौशल और क्षमता प्राप्त की है, योग्यता की अर्जना की है, सिद्धि-पीठिका प्राप्त की है, वह व्याकुल कर देने वाला कोई कारण प्रस्तुत नहीं पाता। उसे अपने पर विश्वास है, अतएव वीर सेनानी की भाँति दृढ़ता से परीक्षा-भवन मे जा बैठता है। वहाँ अनुभव न होने के कारण वह कितनी ही भूलें कर देता है। इससे उसकी समस्त सिद्धि पर पानी फिर जाता है। कभी तो प्रश्नपत्र को अच्छी तरह समझे बिना ही हल करने लग जाता है और कुछ का कुछ लिख जाने से फल भी कुछ अन्य ही मिलता है। वह उसके लिये विष का काम करने वाली भूल होती है जिसके लिये उसे पीछे बहुत पछताना पड़ता है। उसे चाहिये कि जैसे ही प्रश्नपत्र उसके हाथ में आवे सावधानी से उसे पढ़ ले। ऊपर या नीचे दी हुई

सूचनाओं पर भली भाँति विचार कर ले। फिर कितने और कौन-से प्रश्न करने हैं, इसका निर्णय करके उत्तर लिखने के लिये सन्नद्ध हो जाय; परन्तु प्रत्येक प्रश्न के साथ उसे न्याय करना है, समय का ध्यान रखना है। कहीं ऐसा न हो कि जिस प्रश्न पर कम लिखना है उसी पर अपनी सारी योग्यता समाप्त कर दे। वहाँ तो "जैसी तेरी कोमरी तैसे मेरे गीत" का सिद्धान्त बरतना है। जिस प्रश्न के लिये जैसे अङ्क है वैसा ही उसका उत्तर देना है। प्रश्न लिखते समय यह बात विशेष ध्यान देने की है कि प्रश्न में पूछा क्या गया है और हम क्या उसी के अनुसार लिख रहे हैं? कहीं ऐसा न हो कि बैल के सींगों के सम्बन्ध में पूछा जाय, पर घोड़े की दुम के गीत गाने लगें। इसके साथ ही परीक्षार्थी को चाहिये कि वह यह देखले कि उसके सब उत्तर प्रश्नों के अनुरूप अङ्कित हैं। कभी कभी छात्र उतावली में प्रश्न की संख्या देना भी भूल जाता है और परीक्षक उसकी खोज में कष्ट पाता है। इसके लिए परीक्षार्थी को भी कम अङ्क मिलने के कारण दण्डित होना पड़ता है; अतएव उसे प्रश्न संख्या के सम्बन्ध में सतर्क रहना चाहिये।

इसी के साथ उसे एक बात और ध्यान में रखनी है, वह यह कि जैसा प्रभाव वह प्रश्न के आदि में परीक्षक के ऊपर डालता है वैसा ही प्रश्न के अन्त में डालने में भी समर्थ रहे।

प्रश्नों उत्तर कितने ही अच्छे क्यों न हों, जब तक लेख स्वच्छ और स्पष्ट न होगा, परीक्षार्थी परीक्षक पर अपनी योग्यता का

पूर्ण प्रभाव नहीं डाल सकता। प्रभाव की बात छोड़िये, कभी कभी तो लेख इतना अस्पष्ट पाया जाता है कि परीक्षक उसे पढ़ भी नहीं सकता, उस समय उसे मनमानी करनी होती है। अतएव अपने कठिन परिश्रम, अध्ययन और योग्यता को सफल बनाने के लिए परीक्षार्थी को स्पष्ट लिखने का अभ्यास होना चाहिए। यदि सुन्दर लिखना भी वह जानता है तब तो कहना ही क्या ! सोने में सुगन्ध है।

परीक्षा भवन में मौन होकर लिखना, इधर उधर न देखना, किसी कागज के टुकड़े पर न लिखना सुछात्र का कर्तव्य है। वे उसकी सच्चाई की द्योतक बातें हैं। वे छात्र जो अध्ययन के सम्बन्ध में अचेत रहते हैं अथवा अध्ययन नहीं करते वे चतुर और मननशील छात्रों से परीक्षा भवन में सहायता लेने की चेष्टा करते हैं। उनकी सहायता देना अपराध है। इससे न केवल अयोग्य छात्र ही दंडित होता है अपितु सुयोग्य और अध्यवसायी को भी दंडित होना पड़ता है, अतः उस समय मूक बनना ही श्लाघ्य एवं हितकर है।

सेनापति का शृंगार-वर्णन

सेनापति का नाम भक्त कवियों के अन्तर्गत रक्खा गया है किन्तु उनके कवित्व को सूर और तुलसी की तरह भक्ति से प्रेरित नहीं कह सकते। उनका व्यक्तित्व पहिले कवि का है और पीछे भक्त का, यह साहित्यिक निर्णय ही नहीं, ऐतिहासिक सत्य भी है। कवित्त-रत्नाकर और काव्य-कल्पद्रुम के रचयिता को कवि कहने में किसी भी आलोचक को हिचक न होगी। रीति-धारा के प्रारम्भिक स्वरूप की अभिव्यक्ति में सेनापति का हाथ कुछ कम नहीं है। यद्यपि कवित्त-रत्नाकर की चौथी और पाँचवी तरंगें कवि की जरा-कालीन शान्त तरंगें हैं जिनमें एक भावुक भक्त भी बोल रहा है, फिर भी वहाँ कवि का स्थान प्रथम है। चौथी तरंग में, जहाँ उन्होंने रामायण की कथा कहने की प्रवृत्ति ग्रहण की है, वे प्रायः कवि के उज्ज्वल वेष में ही प्रकट हुए हैं। वहाँ भक्ति के क्षेत्र में भी कवित्व का गौरव है। इसी प्रकार राम-रसायन में भी भक्ति में कवित्व ही मुखर मिलता है।

सेनापति की कविता की पर्यालोचना करते समय हमें यह याद रखना चाहिए कि वे काव्य-कल्पद्रुम के भी रचयिता हैं। ग्रन्थ का समय कुछ भी सही, इससे यह तो स्पष्ट है कि कवि का काव्य-रीति की ओर झुकाव था और रीति-सिद्धान्तों के संचयन के लिए उसने संस्कृत काव्य-शास्त्र का अच्छी तरह परिशीलन किया था तथा वह शास्त्रीय परंपरा से पूर्णतः

परिचित था। कवित्त-रत्नाकर में रीति-परिपाटी का आग्रह तो नहीं है, किन्तु रीति-प्रवृत्ति का उदय सुव्यक्त है। केवल पहली और दूसरी तरंग के देखने से तो किसी को भी सेनापति के रीति-कवि होने में शंका नहीं रहती, परन्तु उनकी सम्पूर्ण कृति को देखने से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि मानों वे भक्ति-काल के प्रान्त पर खड़े होकर रीति की ओर मुख किए हुए हैं। उनके अनेक छन्द किसी लक्षण ग्रंथ के उदाहरण बन सकते हैं।

सेनापति को भावुक हृदय मिला था। उनकी भावना दूरंगम होने के साथ-साथ कोमल एवं मंजुल थी, उसमें मुड़ने की शक्ति थी। यही कारण है कि उनकी जो प्रतिभा नायक-नायिका का रंगीन चित्र सफलता से खींच सकती है, वह भक्ति-रस की धारा भी प्रवाहित कर सकती है। द्विमुखी होते हुए भी उनकी प्रतिभा में प्रकृत सौन्दर्य है। शृंगार-वर्णन जितना स्वाभाविक है उतना ही भक्तिभावना का व्यक्तीकरण भी, किन्तु इससे यह भी न समझ लेना चाहिए कि कवि की वृत्ति रति (ईश्वरीय या लौकिक) में ही लीन रही है; उसका प्रसार उत्साह, विस्मय, क्रोध और भय तक भी सहजरूप में हुआ है। इन भावों के नमूने चौथी तरंग में विशेषतः भरे पड़े हैं। अनेक स्थलों से कवि की बहुज्ञता का सुपरिचय भी मिलता है। मान-क्षयरोग के निवारण के लिए 'अलसे' के नुस्खे में बहुज्ञता का सुन्दर प्रमाण प्रतिफलित है।

सेनापति की वृत्ति अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार में ही अधिक लीन हुई है। कविप्रतिभा का संचरण शृंगार के दोनों पक्षों में हुआ है, किन्तु संयोग-पक्ष विप्रलंभ के समान गम्भीर और सुरस नहीं है। यह कवि का दोष नहीं है; दोष है संयोग की संकोचशीलता का। यद्यपि भावना और कल्पना के लिए संयोग-पक्ष में भी पर्याप्त अवकाश रहता है, परन्तु वियोग पक्ष में परिस्थितियों को अधिक मार्मिक और भावों को अधिक तीव्र बनाया जा सकता है। भाव तीव्रता में प्रभाव-प्रेषणीयता का व्यापक साहित्य (साहचर्य) होने से मार्मिकता बढ़ जाती है। सेनापति के विरह वर्णन में भाव तीव्रता ही नहीं, स्वाभाविकता भी है। भाव तीव्रता का आधार स्वाभाविकता होने से विरह-वर्णन प्रकृत सौन्दर्य से संश्लिष्ट है। प्रतीक्षा करती हुई विरहिणी के लिए प्रवासी प्रियतम का पत्र कितना सुखद एवं रोम-हर्षक होता है, यह भाव इस कवित्त में स्वाभाविक तीव्रता लेकर प्रकट हुआ है

नैन नीर बरसत, देखिवे कौं तरसत,
लागे काम सरसत पीर उर अति की।
पाये न सँदेसे तातैं अधिक अँदेसे बढ़े,
सोचै सुकुमारि पै न कहै मन गति की।
ताही समैं काहू औचक ही आनि चीठी दीनौं,
देखत ही सेनापति, पाई प्रीति रति की।

माथे लै चढ़ाई, दोऊ दृगनि लगाई चूमि,

छाती लपटाई राखी पाती प्रानपति की ॥

कवि ने वस्तु-वर्णन और भाव व्यंजना दोनों को ग्रहण किया है और दोनों क्षेत्रों में ही उसे स्वाभाविक सफलता प्राप्त हुई है। वस्तुवर्णन की सामग्री नवीन न होते हुए भी वस्तुओं और व्यापारों की संश्लिष्ट योजना नए रूप में रक्खी गई है जिससे कवि के व्यक्तिगत निरीक्षण का आभास मिल जाता है। जिस प्रकार विहारी ने अनेक दोहों में अनर्गल भावों से स्वाभाविकता का विरोध किया है, उस प्रकार सेनापति ने नहीं। परिस्थितिओं और भावनाओं की सूक्ष्मता में सेनापति ने न केवल अप्रकृतता का निवारण किया है, अपितु चतुर कलाकार की भाँति भाव-सौन्दर्य का सन्निवेष भी किया है। कहीं कहीं विहारी ने फारसी के कवियों की सी अनर्गलता से काम लिया है; वे उक्ति-वैचित्र्य में उलझ कर जीवन से विप्रकृष्ट होगए हैं, परन्तु सेनापति अपने उत्तरदायित्व की ओर सचेत दीख पड़ते हैं। चमत्कार के साथ-साथ प्रतीतत्व और प्रकृतत्व सहज सौन्दर्य लेकर आते हैं। वियोगिनी की कृशता का चित्र जितना चामत्कारिक है उतना ही स्वाभाविक भी, देखिये

लागि रही सेज सौं, अचेत ज्यौं, न जानी जाति,

सेनापति बरनत बनत न बानी सौं।

रही इकचक, मानौं चतुर चितेरे, तिय,
रंचक लिखी है कोई कंचन के पानी सौं ॥

यहाँ ध्वनि और उत्प्रेक्षा के समन्वय में प्रकृतता का समादर है। यही कविता की वास्तविकता है।

सेनापति का विरह-वर्णन बहुत उत्कृष्ट तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें वेदना का निर्मल और कोमल स्वरूप नहीं झलकता, परन्तु जीवन का सान्निध्य होने से वह अविकृत रहा है। उसमें भारतीय हृदय की साहचर्य भावना और अकृत्रिम प्रवाह का सुन्दर पुट है। कवि के सादृश्य कथन भी अत्यन्त स्वाभाविक हैं। उपमानों को ऊहा द्वारा नहीं पकड़ा गया, अपितु वे सामने ही प्रस्तुत हैं; इससे उपमेयों की ओर सहज ही ध्यान पहुँच जाता है। सादृश्य का उदय विरह-विह्वल अन्तःकरण में किसी प्रयास के बिना ही हो गया है।

सेनापति ने विप्रलंभ की केवल तीन परिस्थितियों को ही ग्रहण किया है, 'करुण विप्रलंभ' को प्रस्तुत नहीं किया। पूर्वानुराग के अन्तर्गत दर्शन और श्रवण दोनों पक्षों की सुष्ठु विवेचना हुई है। आश्रम में काम की दश दशाओं में से प्रायः उद्वेग ही देखने को मिलता है। अन्य दशाओं का मिश्र चित्रण भी सुन्दर बन पड़ा है। 'मान' की अभिव्यंजना प्रमुख रूप में हुई है। इसका उदय नायक के शरीर पर अन्य स्त्री के चिन्ह देख कर होता है। मान मोचन के लिए 'नति' का प्रयोग किया गया है। विप्रलंभ

की तीसरी परिस्थिति प्रवास के कारण उत्पन्न होती है। प्रवास और प्रवासी का स्मरण केवल प्रोषितपतिका का चित्र प्रस्तुत करने के लिए किया गया है; अतएव नायिका के भाव रूपादि पर विशेष ध्यान दिया गया है, प्रवास के कारणादि पर नहीं। खण्डिता-वर्णन जितना विशद है, प्रोषितपतिका-वर्णन उतना ही प्रकृत है।

शृंगार के निष्पादन में नायक प्रायः कृष्ण (जिन्हें अनेक बार 'लाल' के नाम से भी संबोधित किया गया है) और नायिका राधा या कोई गोपी होती है, किन्तु अनेक वृत्तों से राधा-कृष्ण का नायिका-नायकत्व प्रतीत नहीं होता। नायिका-वर्णन में परकीया को ही स्थान मिला है जो ऊढ़ा और अनूढ़ा दोनों रूपों में प्रकट हुई है। परकीया को खंडिता, उत्का, वासक-सज्जा, प्रोषितपतिका और वचनविदग्धा के रूप में भी देखा गया है।

नायिका वर्णन में कवि ने अनेक स्थलों पर दूती का वर्णन किया है। नायक और नायिका का मिलन कराने के लिए 'विप्रलंभ' के अन्तर्गत दूती की बड़ी आवश्यकता भी है। सेनापति ने सखी और दूती के भेद को स्फुट नहीं होने दिया। वैसे तो सखी भी दूती-कार्य कर सकती है, परन्तु आचार्यों ने दोनों में थोड़ासा अन्तर रक्खा है। सखी का काम मण्डन, उपालंभ शिक्षा और परिहास है तथा दूती नायक और नायिका के बीच

विरह-निवेदन और संघट्टन कराती है। सखी नायिका के चित्त की बात को कभी तो स्वयं ताड़ जाती है और कभी नायिका स्वयं व्याकुल होकर प्रीति में अपना मत उस पर प्रकट कर देती है। दूती के सम्बन्ध में सेनापति को काव्य-शास्त्र की ओर झुका देखते हैं। एक छन्द में सुनारिन का दूती होना इसका प्रमाण है।

रति-चेष्टाओं का वर्णन भी अच्छा बन पड़ा है। उद्दीपन में चेष्टाओं को उचित स्थान मिल जाने से भावों में मार्मिकता और रस में परिपूर्णता सिद्ध हो गई है। चेष्टाओं के साहचर्य से उद्दीपन तीव्र हो गये हैं, परन्तु संचारियो के विषय में कवि की कंजूसी खटकती है। सात्विक भावों का रूप भी दब सा गया है। कवि ने दो तीन सात्विक भावों से ही अपना काम निकाल लिया है, उनमें अश्रु और प्रलाप मुख्य हैं, कहीं कहीं वैवर्ण्य का दर्शन भी हुआ है। उद्दीपन प्रायः शारीरिक हैं, प्राकृतिक उद्दीपनों का प्रयोग तो लगभग नही के बराबर है। कुछ कमियाँ होते हुए भी भाव-निर्वाह सच्चा और प्रकृत हुआ है। शृंगार का नायक दक्षिण की श्रेणी का है जिसकी अनेक नायिका हैं। कृष्ण के दक्षिणत्व मे तो कोई सन्देह ही नहीं है; राधा के सिवा उनका प्रेम औरो से भी है। गोपियों की बात छोड़िए, कुब्जा तक को उनकी प्रेयसी के रूप में देखते हैं। एक श्लिष्ट कवित्त मे स्वकीया नायिका भी प्रकट हुई है। कृष्ण का नायकत्व संयोग और विप्रयोग दोनों पक्षों में रहा है, परन्तु उसका रूप विप्रलंभ मे ही अधिक विकसित हुआ है, जहाँ उसे

पूर्वानुराग मान और प्रवास की परिस्थितियों में रति का आलंबन पाते हैं।

सेनापति के शृंगार में कृष्ण का पद साधारण नायक से ऊंचा नहीं दीख पड़ता। उन के शृंगार का आदर्श न तो सूर की भक्ति है और न अनेक परवर्ती रीतिकालीन कवियों की तरह अश्लील रुचि का पोषण ही। उन्होंने सुरुचि और स्वाभाविकता का ध्यान रक्खा है। समाज में शृंगार की जिन भावनाओं को सुरुचि स्वीकार कर सकती है उन्होंने उन्हीं का उपयोग किया है। कुछ कवित्तों में सूर के पदों की भाव छाया भी मिलती है।

सेनापति के शृंगार में सहज सौन्दर्य का प्रमुख कारण है कवि की कलात्मक जागरूकता वह नायिका के वेष, भूषण, हाव-भाव आदि के प्रति जितना सचेत है उतना ही नायक के रूपाकर्षण के प्रति भी। दोनों पक्षों के रूपसौन्दर्य के प्रति समान सहृदयता ही कवि का कलात्मक न्याय है। सूरदास की प्रतिभा न्याय की इस दृष्टि का अभिताकर है सही, परन्तु कुछ पदों में सामाजिक सुरुचि को ठेस लगने से उनमें सेनापति की सी विशुद्धता नहीं रह सकी है।

कवि और कविता

कवि के सम्बन्ध में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएं हैं। कुछ लोग उसकी शक्ति को जन्मजात मानते हैं और कुछ अर्जित; किन्तु अर्जना का कारण प्रयास होने से कविता में उसका महत्व कम होता है। कल्पना की स्वाभाविकता और सौन्दर्य की सहज अनुभूति में अर्जना की अपेक्षा प्रत्युत्पन्न प्रतिभा को ही अधिक श्रेय मिलता है। वह कवि की जन्मसिद्ध शक्ति होती है, जिसका उदय समय पर मेघमाल से तडित की भाँति हो जाता है। प्रयास में अबाध स्वाभाविकता तथा नैसर्गिक माधुर्य न होने से अर्जित कवित्व-शक्ति कलामात्र रह जाती है। यों तो कला का सौन्दर्य से विरोध नहीं है तथापि सहजसौन्दर्य कला से निष्पन्न नहीं हो सकता। कला में व्यक्त प्रमुख और अव्यक्त गौण रहता है। व्यक्त की पुनरभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम अनुकरण है। अनुकरण और प्रयास सहचर हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि कला मौलिक होती ही नहीं; वह मौलिक हो सकती है; किन्तु उस दशा में वह अनुकरणरहित होती है। अमूर्त के संसर्ग से उसमें मूल सौन्दर्य रहता है। तब उसे कवि की अर्जित शक्ति नहीं कह सकते, क्योंकि वह स्व-भाव-प्रतिफलित होती है, अतएव यह मानना अनुचित नहीं कि उत्तम काव्य प्रयास विरहित होता है। उसका स्रष्टा जीवन का मर्म जानता है। वह मूर्त में अमूर्त के रहस्य को देख सकता है। प्रकृति के छिपे

भेदों को सर्व साधारण के सामने मनोहर रूप में प्रकट करना और अपने अनुभव को दूसरों के लिये प्रेय एवं श्रेय बना देना उसका मुख्य काम है। उसके द्वारा किया हुआ खुले भेदों का व्यक्तीकरण भी उसके हृदय का सौन्दर्य लेकर आता है। उसके 'विचित्र' और सामान्य में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होते हुये भी व्यष्टि और समष्टि की नित्य सम्पत्ति का मूर्त भाव रहता है। उसे 'अज्ञेयमीमांसा' करने से रोका नहीं जा सकता, किन्तु वह रहता सदैव जीवन के साथ है। वह रहस्यभाव को रत्न पारखी की भांति परख परख कर चुनता है और परिस्थिति एवं समीचीनता का ध्यान रखकर उसका प्रयोग करता है। उसकी प्रतिभा से प्रेरित कला भी अपना काम गौण रूप से करती है। इसीलिये उसकी कविता में चतुर माली की वाटिका का सा माधुर्य होता है।

कवि देश-काल के बन्धन से भी मुक्त रहता है। वह भारत में बैठ कर ब्रिटेन का भाव-चित्र खींच सकता है और रामराज्य को इस समय में ला सकता है। समकालीन परिस्थितियां उसके स्वर में बोलती है, परन्तु उसके स्वर का आधार अतीत भी हो सकता है। उसी के भीतर वर्तमान की प्रतिध्वनि भी सुनी जा सकती है। राम-कथा को उन्नीस सौ अड़तालीस के साँचे में ढालने वाली कवि-शक्ति कलेतर नहीं हो सकती। कवि की कला प्रतिभा के बल से चतुर रँगरेज की भांति जीर्ण को भी नवीन सा प्रकट कर सकती है। उसके दिव्य लोचन भविष्य के तिमिर में भी जा देखते हैं।

जगत् से कवि का सम्बन्ध अमिट है। वह सामाजिक प्राणी है। जीवन के घात-प्रतिघातों का प्रभाव औरों की तरह उस पर भी पड़ता है; परन्तु विचित्र अभिव्यक्ति के कारण वह हम से विचित्र है। सूक्ष्म दर्शन और मनोज्ञ प्रदर्शन के संयोग से उसकी कृति सामान्योत्तर बन जाती है। उसकी प्रतिभा स्वानुभूत व्यक्ताव्यक्त को 'व्यापक' का प्रतिरूप बना सकती है। उसके आँसू घास की पत्तियों पर भी बिखरे पड़े हैं। उसे नभ की आँखे डब-डबाती दिखाई देती है। प्रकृति के कण कण में मानों उसको भाव की अनुभूति होती है। वह प्रकृति के प्रति सचेत है, किन्तु स्वार्थ-भावना से नहीं; उसकी कृति में स्वानुभूति और परानुभूति सहस्थ दीख पड़ती है। यही कारण है कि काव्य में व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि परस्पर अनुस्यूत रहती है। उसकी स्वानभूति को व्याप्ति का प्रश्रय रहता है। वही पराकर्षण का आधार है। पराकर्षण का कारण अनुभूति-साम्य होता है। स्वानभूति द्वारा परानुभूति की व्याप्ति बन जाना ही कविता के व्यापक सौन्दर्य का लक्ष्य है। इसी से उत्तम काव्य विश्वनिधि समझा जाता है। कवि का 'सुन्दर' सबका सुन्दर है। वह चिरन्तन सत्य और 'शिव' का द्योतक है। कवि की सुन्दर विषयक गवेषणा जितनी गम्भीर उतनी ही तीव्र भी हो सकती है। कवि सुन्दर को मानव-अमानव—जड़-चेतन—सब में देखता है। उसके दिव्य-चक्षुओं में कुरूप के लिये अवकाश नहीं है। हम जिसे सामान्यतः 'असुन्दर' कहते हैं, कवि को उसमें भी सुन्दर दीख सकता है।

कवि का 'सौन्दर्य' भाव सौन्दर्य है। उसके भाव-स्पर्श से 'कुरूप' भी 'सुरूप' बन जाता है।

कवि का व्यक्तित्व न्याय का विरोधी नहीं होता। जब कवि का प्रत्येक शब्द सत्य, शिव और सुन्दर की ध्वनि देता है तो उसे अन्यायी कैसे कह दिया जाय? उसकी दृष्टि पर पक्षपात का आवरण नहीं होता। पक्षपात के भाव से लोकोत्तर आनन्द का अभाव हो जाता है और काव्य-धर्म का याथातथ्य बिगड़ जाता है। यदि विरहिणी को जलाने वाले चन्दनलेप को कवि ने अपनी ध्वनि से दाहक कह दिया तो उसका क्या अन्याय है? चन्दन के आलेप का विरहिणी के प्रति जैसा भाव है उसका यथातथ निरूपण ही तो कवि का धर्म है, यही उसका न्याय है। उसके गिरा मन्दिर से चेतन-अचेतन सबको आमन्त्रण मिलता है और सबका समुचित आदर होता है। कवि के भावों की सम्मिलित बैठक में कुछ नियमों का पालन होता है, किन्तु कवि उन नियमों का स्वयं कर्ता होता है। वे उसके बन्धन नहीं होते। उसके भावों का सामञ्जस्य ही तो जीवन की एकता का संरक्षण करता है। भावों की असमञ्जसता से ही काव्य की असफलता को आह्वान मिलता है।

सर्वव्यापी की भांति कवि की गति सर्वत्र होती है। वह राज-वैभव में विलास कर सकता है और दीन-दुखियों के करुण-क्रन्दन में भी अपना स्वर मिला सकता है। 'अपनी दृष्टि' से

देखकर भले को भला और बुरे को बुरा कहने में वह तनिक भी नहीं हिचकता। वह जिस वस्तु अथवा भाव को ग्रहण करता है उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। 'राज-दरबार' के चित्र में हम उसे दरबारी और 'भैंसागाड़ी' के चित्र में किसान या मजदूर ही देखते हैं।

प्रकृति और मानव के चिरन्तन सम्बन्ध का दर्शन सबसे पहले कवि को ही हुआ है। वह उसे जितना स्पष्ट देखता है उतना दूसरा नहीं। मानवहृदय में पाषाण और वज्र, धैर्य और साहस में अचल, अस्थिरता में चञ्चला और ज्ञान में प्रकाश केवल कवि की दृष्टि के सामने ही आया है। सुनहले तीर बरसाती हुई 'उषा' को 'जयलक्ष्मी' के रूप में कवि ने ही देखा है। कलियों में स्मिति और लता के आन्दोलन में हृदय के उल्लास का संकेत करने वाला कवि ही होता है। वही रसाल, वकुल आदि के सुमनों में काम बाण देखता है।

कवि प्रकृति को किसी प्रकार देखे वह उसके साथ मानव को अवश्य देखता है। कविता के वृत्त में मानव केन्द्र और प्रकृति परिधि है; दूसरे शब्दों में प्रकृति को मानव का क्रीड़ांगण भी कह सकते हैं। कविता का उद्देश्य मानव और प्रकृति के सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखना है। इसी लक्ष्य में मङ्गल कामना संनिहित है। उसका लक्षण धर्म है। कवि की साधना में धर्म-प्रवाह रहता है। वही मानव और प्रकृति के सम्बन्ध का प्रवाह भी है। कवियों ने इस सम्बन्ध को भिन्न-भिन्न दृष्टि कोणों से

देखा है। किसी किसी ने प्रकृति से मानव का व्यावहारिक सम्बन्ध जोड़ा है; वहाँ मानव प्रकृति से परिचय करता दीख पड़ता है। इसी को नैतिक सम्बन्ध भी कहते हैं। इस दशा में ऐहिक सफलता का कारण प्रकृति को ही माना जाता है। कोई कवि प्रकृति-मानव सम्बन्ध को अधिक ऊँचा देखता है। वह उसमें प्रेम और अनुराग की विभा विकसित पाता है। वहाँ प्रकृति को मानव की सहचरी समझा जाता है। तीसरे कोण से देखने वाला कवि प्रकृति को ज्ञेय समझता है। वहाँ कवि की भावना ज्ञानरूपा होती है। इस प्रकार कविता में प्रकृति मानव के साथ कर्म, प्रेम और ज्ञान की रूप-रेखा खींचती चलती है। ये तीनों तत्व धर्म के प्रधान अङ्ग हैं और धर्म का आधार भी सत्य, शिव और सुन्दर है। इस प्रकार कविता सत्य, शिव और सुन्दर का मन्दिर है।

कवि दृश्य और अदृश्य दोनों को देखता है। दोनों के साथ उसका व्यवहार सौन्दर्योपासक का है। वह मूर्त के पर्यवेक्षण से ही अमूर्त की खोज करता है। यद्यपि सौन्दर्य की दृष्टि से मूर्त और अमूर्त में कोई साम्य नहीं है तो भी मूर्त को अमूर्त का संकेत बनाया जा सकता है। शशि और उसकी ओर संकेत करनेवाली अँगुली में जो सम्बन्ध है वही मूर्त और अमूर्त में भी। मूर्त में अमूर्त-दर्शन जितना सूक्ष्म होता है उतना ही सुन्दर। वट-वृक्ष के वर्णन में मूर्त की प्रधानता से 'सुन्दर' गौण हो जाता है; किन्तु वट-बीज में वृक्ष की भावना, अमूर्त की

प्रधानता के कारण, कविता में विशद सौन्दर्य का समावेश कर देती है। 'सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जन जिमि हरि पाई' में कवि ने मूर्त में अमूर्त सौन्दर्य की खोज की है। इसी प्रकार की कविता में भाव सौन्दर्य की चरमाभिव्यक्ति होती है। अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अभिव्यक्ति को भी इसी कोटि में रक्खा जा सकता है। कवि का सम्बन्ध अमूर्त से जितना घनिष्ठ होता है वह उतना ही उत्तम होता है। उसकी रचना ध्वनिमय होती है जिसमें 'अप्रस्तुत' संकेत का काम करता है। अव्यक्त सौन्दर्य के अभिभावन में ही तो कवि की पारदर्शिता और मनस्विता सन्निहित रहती है। इसी में कला का रूप निखरता है। किसी बड़े डीलडौल वाले व्यक्ति को मोटा कहने से उक्ति में कोई सौन्दर्य नहीं आता; किन्तु उसमें अव्यक्त या अप्रस्तुत हाथी की अभिभावना से सौन्दर्य की वृद्धि होती है। यह सर्वमान्य सत्य है। यही अमूर्त सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कला का प्राण है।

कवि को अनर्गल और झूठा कहना कविता के सौन्दर्य को न समझना है। कवि के सत्य में वैज्ञानिक सत्य की खोज करना व्यर्थ है। वैज्ञानिक के साधन और साध्य दोनों ही मूर्त होने से उसकी खोज का आधार मूर्त सत्य होता है। उसका सौन्दर्य भी सीमित होता है, किन्तु मूर्त सत्य का सीमित सौन्दर्य ही सब कुछ नहीं होता। उसका मूल वह सत्य और अपरिमित सौन्दर्य है जो मूर्त-अमूर्त, प्रस्तुत-अप्रस्तुत सबमें व्याप्त है। कवि

अपनी ध्वनि से प्रस्तुत में उस अप्रस्तुत सौन्दर्य का चित्र उपस्थित करता है जो वैज्ञानिक सत्य से बहुत ऊपर है। वह प्रस्तुत के जिस स्वरूप को देख सकता है वह वैज्ञानिक के सत्य की सीमा में नहीं बँधता। इसलिये वैज्ञानिक का सत्य ससीम और कवि का सत्य असीम होता है। वैज्ञानिक के प्रयोग में कली की स्मिति का कोई स्थान नहीं है और न वह उसे देख ही सकता है, परन्तु कवि के हृदय में असीम बोलता है। इसीसे वह उस स्मिति से सुपरिचित होता है। यही तो प्रस्तुत में अप्रस्तुत और मूर्त में अमूर्त सौन्दर्य की भावना है जो केवल कवि का विषय है।

यशोधरा

प्रेरणा } "उनका श्रेय भी तो 'साकेत' की उर्मिला देवी को ही है जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है" कवि के इन शब्दों से ग्रंथविषयक प्रेरणा का आभास मिल जाता है। साकेत की तरह यहाँ भी विस्मृता के स्मरण की भावना कवि के हृदय में मचल रही है। पूर्वकवियों की लेखनी ने उर्मिला और यशोधरा की जो उपेक्षा की है उसे गुप्त जी ने बड़ी व्याकुल आँखों से देखा है। वह तितिक्षा और यह उपेक्षा ! कितनी बड़ी विषमता है ! महत्ता की कितनी कठोर अवहेलना है ! गुप्तजी की कोमल भावुकता इसे न सह सकी। कल्पना की जिस दृष्टि से कवि ने राम-कथा में उर्मिला की तितिक्षा देखी वही यशोधरा की महत्ता की ओर भी ले गई। पूर्वजों की अन्यमनस्कता से कवि का हृदय पीड़ित हो उठा और सहज करुणा कण्ठ से कराह निकली "हाय ! यहाँ भी वही उदासीनता ! अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तों की आँखें चौंधिया गईं और उन्होंने इधर देख कर भी नहीं देखा। सुगत का गीत तो देश-विदेश के कितने ही कवि-कोविदों ने गाया है, परन्तु गर्विणी गोपा की स्वतंत्र सत्ता और

महत्ता देख कर मुझे शुद्धोदन के शब्दों में यही कहना पड़ता है कि

"गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझ को।"

कथानक } प्राचीन कवि-परंपरा के अनुकरण में ग्रन्थ का श्रीगणेश मंगलाचरण से होता है जिसमें राम को श्रद्धाञ्जलि समर्पित की जाती है। इसके उपरान्त ही कवि-प्रतिभा सिद्धार्थ की विरक्ति के निरूपण में लीन हो जाती है और 'यशोधरा' का प्रबन्ध चल निकलता है। सबसे पहिले सिद्धार्थ के ध्यान में आवागमन का चक्र आता है और मानसिक प्रतिक्रियाओं में संस्कार का उदय होने लगता है। वे देखते हैं कि इस संसार-चक्र में जीव निरंतर पिस रहा है

पिसो पड़े हो इसमें जब तक,
क्या अन्तर आया है अब तक?
सहें अन्ततोगत्वा कब तक
हम इसकी गति वक्र?
घूम रहा है कैसा चक्र?

जरा, रोग, मृत्यु आदि का साक्षात्कार मनस्वी कुमार की चिन्तना को प्रौढ़ और मानसिक आन्दोलन को तीव्र कर देता है। वे व्याकुल होकर सोचते हैं

हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा

हाय! मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण-सुवर्ण खरा?
सूख जायगा मेरा उपवन, जो है आज हरा?

इसी शरीर का भी क्या भरोसा जिसे मृत्यु कभी भी, कहीं घेर सकती है

यह भी पता नहीं, कब किसका
समय कहाँ आ बीता है?
विष का ही परिणाम निकलता,
कोई रस क्या पीता है?

विवेक के साथ साथ कुमार की विरक्तिभावना दृढ़ होती चली जाती है और वे अन्तराय के विनाश का संकल्प कर लेते हैं

अमृतपुत्र, उठ, कुछ उपाय कर,
चल, चुप हार न बैठ हाय!
खोज रहा है क्या सहाय तू?
मेंट आप ही अन्तराय॥

मुक्ति के लिए भव-भुक्ति का परित्याग करके वे घर से निकल पड़ते हैं। परिवार से मोह छूट जाता है और जगत् के प्रति उर में घृणा भर जाती है। छन्दक को चुपके से साथ लेकर, कंथक पर चढ़ कर, अँधियारी रात में ही महाभिनिष्क्रमण कर देते हैं। निर्वाण-हेतु प्रियतम के इस प्रयाण को यशोधरा स्वप्न में देख लेती है और उद्वेग की तीव्रता से स्वप्न भग्न हो जाता है। जगने पर वस्तु-स्थिति अवगत होती है और वह सखी के

साथ विलाप-वार्तालाप करने लगती है। परिवार के सब लोग परिताप से पिघलने लगते हैं। छन्दक लौट कर आता है और कन्थक को शून्यपृष्ठ देख कर पुरजनों की आशा टूट जाती है। पूछने पर छन्दक उन्हें सिद्धार्थ का समाचार सुनाता है और वे शोकातुर हो उठते हैं।

उधर गौतम निर्वाण के अनुसंधान में लग जाते हैं और इधर शिशु राहुल बड़ा होता है। माता के स्नेह से परिपालित भी राहुल आयु के साथ साथ पिता के अभाव से दुःखी रहता है। माँ की अविरल व्यथा उसके लिए करुणकथा बन जाती है, परन्तु दुःख-मग्न विरहिणी का वह एकमात्र सन्तोष है।

समय बीतता चला जाता है, किन्तु यशोधरा का विरह-घाव नहीं भर पाता। एक दिन सहसा मगध के व्यवसायियों से स्वामी का वृत्त पाकर गौतमी हर्ष से यशोधरा को सुनाती है

"मिल गया, मिल गया, मिल गया
सहसा उनका सन्धान आज"।

गौतमी से यशोधरा का पहला प्रश्न यह होता है

"आलि, उन्हें सिद्धि तो मिली है?"

और गौतमी से यह सुन कर कि
सिद्धियाँ तो उनके पदों पर प्रणत हैं,
स्वामी आज आनन्दाम्रगामी शुद्ध-बुद्ध हैं;
तप तथा त्याग तथागत के साक्षी हैं।

यशोधरा के विरहाश्रुओं में हर्ष की बाढ़ आ जाती है

गोपा गर्विणी है आज आली, मुझे भेंट ले।
आँसू दे रही हूँ, कह और क्या अदेय है ?
× × × ×
यदि यह सत्य है तो मैं भी कृतकृत्य हूँ।
आज सुख से भी निज दुःख मुझे प्यारा है।
हर्ष उससे सँभल नहीं सकता क्योंकि
'हर्ष की अधिकता भी भार बन जाती है।'

बुद्ध से मिलने के लिए शुद्धोदन और महाप्रजावती यशोधरा को मगध ले जाना चाहते हैं, परन्तु वह इनकार कर देती है

"किन्तु तात ! उनका निदेश बिना पाये मैं
यह घर छोड़ कहाँ और कैसे जाऊँगी ?
हाय अम्ब ! आप मुझे छोड़कर वे गये,
उनका मन होगा तब आप आके अथवा
मुझको बुलाके, चरणों में स्थान देवेंगे।"

शुद्धोदन बुद्धदेव को बुलाने के लिए दूत भेजते हैं, परन्तु जो-जो उन्हें लेने के लिए जाते हैं वे सब उनके दर्शन और उपदेश से स्वयं संसार-त्यागी होकर उनके संघ में दीक्षित हो जाते हैं। यशोधरा उनकी प्रतीक्षा में व्याकुल बनी रहती है। अन्त में बुद्ध भगवान् कपिल-वस्तु पधारते हैं और प्रातःकाल

नियमानुसार नगर में भिक्षा के लिए निकलते हैं। इस समाचर से वहाँ हलचल मच जाती है। यशोधरा को बड़ा परिताप होता है। वे राजप्रासाद में भी पधारते हैं और सब उनका उचित स्वागत करते हैं, परन्तु यशोधरा उस सामारोह में सम्मिलित नहीं होती। उससे कहा जाता है तो वह कहती है

उद्धारक चाहें तो आवें,
रहे यहीं यह चेरी।

अन्त में भगवान् ही उसके निकट जाते हैं। उस समय भी यह मानिनी उन्हें राहुल का समर्पण करके अपने परम त्याग का प्रमाण देती है। जिस मार्ग की खोज के लिए स्वामी उसे छोड़ कर चले जाते हैं, उसी को ग्रहण करके यशोधरा सच्ची सहधर्मिणी होने का परिचय देती है।

रूप और शैली — इतनी मात्र कथा के आधार पर विस्तीर्ण प्रबन्ध की रचना की गई है। यशोधरा के त्याग की सिद्धि इस ग्रंथ का उद्देश्य है। सिद्धि के लिए सिद्धार्थ का गृह-त्याग इस प्रबन्ध की एक मात्र घटना है जो अनेक भाव-विस्तारों की एक भूमि है। अतएव रचना को खण्ड-प्रबन्ध का नाम देने में कोई विशेष आपत्ति प्रतीत नहीं होती। इसका ढाँचा और शैली अपूर्व होने से कुछ शंकाएँ स्वाभाविक प्रतीत होती हैं, परन्तु इसकी विचित्रता को स्वयं कवि ने स्वीकार किया है

"लो कविता, लो गीत, लो नाटक और लो गद्य-पद्य तुकान्त-अतुकान्त सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं।"

ऐसी स्थिति में यहाँ काव्य के किसी एक रूप को खोजना तो व्यर्थ है, क्योंकि यहाँ अनेक शैलियों का मिश्रण है। गद्य-पद्य दोनों का मेल देख कर इसे चम्पू काव्य कह देना उचित नहीं है, क्योंकि चम्पू का कथा-सूत्र गद्य में चलता है। बीच-बीच में पद्यों के ग्रन्थन से भावों की अभिव्यक्ति करके प्रभाव प्रेषित किये जाते हैं। इस प्रकार 'चम्पू' के गद्य-पद्य में विशेष सम्बन्ध रहना अनिवार्य है। 'यशोधरा' में इस सम्बन्ध की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं रक्खा गया। अतएव उसे चम्पू की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। किसी पूर्व-निश्चित नाम के अभाव में उसे 'मिश्र-काव्य' कहना ही समीचीन होगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि यशोधरा एक खण्ड-प्रबन्ध है। त्याग और तितिक्षा इसके मूल आदर्श हैं। कवि का लक्ष्य 'विवश-त्याग' को सहिष्णुता में होकर 'स्ववश-त्याग' तक ले जाना है। इसी कारण वह सिद्धार्थ के 'गृह-त्याग' की घटना को यशोधरा के उस परम त्याग तक ले पहुँचा है जहाँ वह पतिधर्म के लिए अपना और अपने पुत्र तक का समर्पण कर देती है। घटना के इस परिणाम में प्रबन्ध कल्पना का मूल उद्देश्य सन्निहित है। अन्तिम दृश्य में 'शम' भाव का दर्शन होता है, जहाँ त्याग नायिका को धर्म की शरण में ले पहुँचता है। कवि

की दृष्टि में मानव-जीवन की शान्ति करुणाक्रन्दनपूर्ण मोह में नहीं है, त्याग में है।

प्रबन्ध निर्वाह } गीत-शैली के सन्निवेश के कारण कहीं-कहीं प्रबन्ध की असफलता का भ्रम होने लगता है। कुछ हद तक यह भ्रम उचित भी है, क्योंकि गीत का मुक्तकत्व प्रबन्धत्व का बाधक है; परन्तु गीतों का प्रयोग रसानुभाव करने के लिए है। गीतों में भाव-सामग्री इतनी प्रचुर है कि इतिवृत्त अन्तः सलिला की भाँति बहता है। भावों में इतिवृत्त के दब जाने से पूर्वोक्त भ्रम स्वाभाविक है। नाना भावों का रसात्मक अनुभव करानेवाले प्रसंगों में संबन्ध-शृंखला ढीली पड़कर भी टूट नहीं पाती। हृदयस्पर्शी भावों की गहनता एवं गंभीरता में भी स्वाभाविक क्रम-संस्कार बना चलता है। घटना के सहयोग के लिए ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बवत् चित्रण है जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगे उठाने में समर्थ हैं। इसलिये घटना-संकोच से उत्पन्न होने वाले अभाव की पूर्ति भाव-गहनता से हो जाती है। परिस्थितियों के अनुरूप भावों ने रचना के प्रबन्धत्व की बड़ी रक्षा की है। कुछ स्थलों पर इतिवृत्तात्मक सूक्ष्मता होते हुए भी उन परिस्थितियों का परिज्ञान हो जाता है, जिनके बीच में स्थित पात्रों के हृदय की अवस्था का अनुमान श्रोता अपनी सहृदयता के अनुसार कर सकते हैं।

यह तो माना जा सकता है कि कथा-प्रवाह में मन्थरता है, और वह मर्मस्पर्शी स्थलों में पहुंच कर और भी बढ़ जाती है, परन्तु उन स्थलों में इतनी मार्मिक तीव्रता और पकड़ है कि श्रोता ऊबने नहीं पाते। हम मानते हैं कि कथा में वह प्रवाह नहीं जो रामचरित मानस में है, किन्तु रामचन्द्रिका की भाँति वह खंडित भी नहीं हुआ। 'यशोधरा' में बड़े-बड़े विराम दीख पड़ते हैं, पर विवरण का लोप नहीं हुआ।

सुनकर ऐसी धारणा बन सकती है कि गीत और नाटक के समावेश से यशोधरा के प्रबन्धत्व को भारी क्षति पहुँची है, किन्तु पढ़ने पर इस भ्रम का निवारण होजाता है। कवि प्रतिभा ने अनेक शैलियों का मिलन ऐसी चतुरता से कराया है कि वह खटकता नहीं है। श्रोता के मस्तिष्क पर बना हुआ कथा का संस्कार पात्रों की नामावली के साथ भी अक्षत एवं अनपकृत ही रहता है। कथोपकथन के कारण संबन्ध-निर्वाह में विशेष विक्षेप उत्पन्न नहीं होता। सच पूछिये तो सम्पूर्ण ग्रंथ का प्राण कथोपकथन ही है। वही कथा का वाहन है और वही भाव-व्यंजन का भी। कथा कलेवर की वृद्धि और भावों में उत्कर्ष का सन्निवेश कथोपकथन और गीतों द्वारा ही हुआ है। गीतों की निजी विशेषता के कारण वस्तु-वर्णन भाव वर्णन में विलीन होगया है सही और गीतों की भाव-परकता और कथोपकथनों की प्रलंबता के कारण कथा-भाग कहीं कहीं

शिथिल भी दीख रहा है, परन्तु रस सामग्री गहीली होने के कारण वह लक्ष्य का बाधक नहीं जान पड़ता।

सामान्य परिचय } यह सच है कि पाठक की जिज्ञासा-वृत्ति की दृष्टि के लिए यहाँ पर्याप्त सामग्री नहीं है, परन्तु हृदय की वृत्तियों के लीन करने के लिए रसात्मक परिस्थितियों का अभाव नहीं है। इस छोटे से इतिवृत्त को कवि ने जिस कौशल से प्रस्तुत किया है उससे हृदय के भिन्न-भिन्न भावों का सामान्य अनुभव प्रत्येक पाठक स्वभावतः कर सकता है। निःसन्देह कुछ भावों का चित्रण ऐसे ब्यौरे लेकर हुआ है कि वे कथा के लिए अनावश्यक प्रतीत होते हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध भी रागात्मिका वृत्ति से होने के कारण भावोत्कर्ष का अपकार नहीं होता। दृश्यों के साथ भावों का संबन्ध स्थापित करके उनसे माधुर्य के निष्पन्न करने की क्षमता गुप्तजी का एक विशेष गुण दीख पड़ा है।

यहाँ गीतों का प्रदुर्भाव गद्य और पद्य दोनों में हुआ है। अन्तर्वृत्ति का चित्रण जितना मधुर और प्रवाहमय पद्य में है उतना ही गद्य में भी। छोटे-छोटे सरल शब्दों में भाव-व्यंजना हुई है। उक्तियों में सतर्कता और पैनापन है। गुणों में प्रसाद की प्रमुखता है। वात्सल्य प्रेम में माधुर्य की बाढ़ आ रही है। कवि का ध्यान प्रायः अभिधा शक्ति पर ही रहा है तो भी क्रियाओं में कुछ स्थलों पर बड़ी सुन्दर व्यंजकता मिल

जाती है। उपमान भावों के अनुकूल हैं। तुक की धुन में 'आय-जाय', 'पाय', 'खाय' आदि कुछ शब्दों का खड़ी बोली के विरुद्ध प्रयोग भी किया गया है। 'आयँगे', 'धायँगे', 'लायँगे' आदि शब्द भी इस प्रकार प्रयुक्त हुए हैं। महाभिनिष्क्रमण में कवि ने तुक की ही धुन में जोड़े वाले शब्दों का (जैसे, धूम-धाम, टीम-टाम, धरणि-धाम, झूम-झाम, क्षीण-क्षाम, धूम-धाम, रोक-टोक, ठौर-ठाम आदि) प्रयोग भी बड़ी उदारता से किया है।

रस } सिद्धार्थ के निर्वेद से प्रबंध का प्रारम्भ होता है। संसार-चक्र का अविरल भ्रमण उन्हें विस्मित कर देता है। वे सोचते हैं।

वह नवनीत कहाँ जाता है,
रह जाता है तक्र।

अनादिकाल से वह चक्र जीवों को पीसता चला आरहा है, यह देख कर वे अपनी रक्षा के लिये व्याकुल हो उठते हैं

कैसे परित्राण हम पावें।

उनकी आँखें, कुछ और खुलती हैं और यह दृश्य धोखे की टट्टी प्रतीत होने लगता है

रिक्तमात्र है क्या सब भीतर, बाहर भरा भरा ?

भीतर भीषण कंकाल मात्र,
बाहर-बाहर है टीम-टाम।

जब उन्हें जगत् में सर्वत्र दुःख, भय, व्यर्थता आदि स्पष्ट दीखने लगते हैं और कर्म काण्ड में ताण्डवती परिलक्षित होने लगती है तो वे कल्याण का मार्ग खोजने का निश्चय कर लेते हैं।

मैं त्रिविध-दुःख-विनिवृत्ति हेतु
बाँधू अपना पुरुषार्थ सेतु ;
सर्वत्र उड़े कल्याण-केतु,
तब है मेरा सिद्धार्थ नाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !

इस प्रकार वे अपने शरीर और सभी लौकिक पदार्थों का तिरस्कार करके, सर्वभूत दया को साथ लेकर, विरक्ति के आश्रय से निर्वाण के अनुसंधान के हेतु प्रयाण कर देते हैं। यही शान्त रस का उदय है। यहाँ शम स्थायी भाव है ; सांसारिक सुख तथा देह की क्षणभंगुरता आदि विभाव हैं ; आत्म-गर्हणा और सर्वभूतदया अनुभाव हैं; और चिन्ता, मति, धृति और स्मृति संचारी भाव इसके परिपोषक हैं।

इधर तो शान्त का उदय होता है उधर यशोधरा का विलाप* 'रति' को जन्म देता है।

* सखि, वे कहाँ गये हैं ?

मेरा बायाँ नयन फड़कता है।
पर मैं कैसे मानूँ ?
देख, यहाँ यह हृदय धड़कता है।

विप्रलंभ शृंगार के लिए कवि द्वारा प्रचुर सामग्री की आयोजना सराहनीय है। प्रारम्भ में प्रवास विप्रलंभ दीखता है; परन्तु शुद्धोदन को यशोधरा का यह उत्तर

"तात, सोचो, क्या गये वे इसी अर्थ हैं ?
खोज हम लावें उन्हें, क्या वे असमर्थ हैं ?"

मान-विप्रलंभ की स्थिति उपस्थित कर देता है। यशोधरा के मान को प्रमाण शुद्धोदन के इन शब्दों में मिल जाता है

गोपे, यह गर्व और मान क्या उचित है ?

महाप्रजावती के इन शब्दों से हमारी धारणा और भी दृढ़ होजाती है

"गोपे, हम अबलाजनों के लिए इतना
तेज-नहीं, दर्प नहीं साहस क्या ठीक है ?"

यशोधरा के मूर्च्छित होजाने पर महाप्रजावती के ये शब्द भी इस सम्बन्ध में बड़े महत्त्व के हैं

"मूर्च्छित है हाय ! मेरी मानिनी यशोधरा।"

यशोधरा के मान की उत्पत्ति सिद्धार्थ के उससे छिप कर जाने के कारण हुई है

सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात ;
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात ॥

सिद्धार्थ की इच्छा का अनुसरण यशोधरा का प्रिय था, फिर भी उनका उससे बिना कहे चला जाना उसे बहुत खटका है

"मैंने मुख्य इसी को जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते ॥"

गोपा के मान की स्थिति कुछ और भी स्पष्ट होजाती है जब कि हम उससे यह सुनते हैं

"तुच्छ न समझो मुझ को नाथ,
अमृत तुम्हारी अंजलि में तो भाजन मेरे हाथ"।

और भी,

(जब वह सुनती है कि बुद्धदेव आ रहे हैं)

"रे मन, आज परीक्षा तेरी।
विनती करती हूँ मैं तुझ से,
बात न बिगड़े मेरी ॥
उद्धारक चाहें तो आवें,
रहे यहीं यह चेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी ॥"

बुद्ध के आने पर राहुल की उक्ति से यशोधरा का गर्व पूर्ण रूप से सिद्ध होजाता है

"ले अब तो रह गई गर्विणी गोपा की वह लाज"।

अनेक उक्तियों से मान विप्रलंभ की सिद्धि होजाने पर भी प्रवास की स्थिति संस्कार-रूप में बनी रहती है।

वियोग का अन्त संयोग से होता है। वेदना विलीन हो जाती है और गोपा के अधरों पर संयोग-सहचरी मुसकान आ खेलती है

"इन अधरों के भाग्य जगाऊँ।
इन गुल्फों की मुहर लगाऊँ!
गई वेदना अब क्या गाऊँ?
मग्न हुई मुसकान।
पधारो, भव-भव के भगवान्।"

परन्तु संयोग में दाम्पत्य-रति का नाम भी नहीं है। संयोग योग की वह शान्ति देने आता है जहाँ नायिका भोगों को भगा देती हैं

"कृतकृत्य हुई गोपा,
पाया यह योग, भोग अब जा तू।"

धर्म-दीक्षा 'शम' की साधिका है। पूज्य पिता से परंपरा प्राप्त करने के लिए गोपा का राहुल को निदेश तथा राहुल का इन शब्दों से

"बुद्धं शरणं गच्छामि,
धर्मं शरणं गच्छामि,
संघं शरणं गच्छामि।"

बुद्ध-धर्म में दीक्षित होना 'शम' भाव का पोषक है। प्रबन्ध के अन्त में नायिका स्वयं धर्म-दीक्षा ग्रहण करके 'शम' भाव का परिचय देती है।

शृंगार के बीच-बीच में वात्सल्य का पुट बड़ी सुन्दरता से किया गया है। इससे 'विप्रलम्भ' के उत्कर्ष में बड़ी सहायता मिलती है, परन्तु कुछ भावों का प्रस्तुतीकरण इस ढंग से हुआ है कि 'रति' विरति में बदलने लगती है। मिलन की उत्कण्ठा विरहिणी के स्वभाव का प्रमुख अंग है; नायिका के मन में इस भाव की स्थिति कभी-कभी बड़ी गहरी हो जाती है। जगत् के प्रति गोपा की अन्यमनस्कता, विरहिणी प्रकृति के प्रति सहृदयता, प्रियतम की सिद्धि के लिए मनौती मनाना आदि भावों से रति-भाव को सहयोग मिलता है। जिस शान्त का उदय विप्रलम्भ मे नितान्त दब जाता है, वही विरहान्त में फिर दीख पड़ता है। संयोग की अवस्था रति-भाव की पोषक न होकर 'शम-भाव' के ही अधिक अनुकूल प्रतीत होती है। अतएव रस सामग्री का प्राचुर्य होते हुए भी रस-निर्वाह में औचित्य नहीं दीख पड़ता। शृंगार की व्यापकता स्पष्ट है, परन्तु संयोग के कारण विप्रलंभ का अन्त बिगड़ सा गया है और विप्रलम्भ की परिस्थितियाँ शम-भाव के विरुद्ध होने से शान्त रस की सिद्धि नहीं हो पाती। अतः हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि रस का निर्वाह सफल नहीं है।

भाव व्यंजना — मुक्तक भावों की व्यंजना में कवि को बड़ी सफलता मिली है। सभी भाव पात्रों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। रति, शिशु-प्रेम और शम की ओर ही कवि का ध्यान रहा है। वात्सल्य के बीच में क्षीण हास्य की झलक भी मिलती है। अन्य भावों का प्रदर्शन किसी पात्र द्वारा नहीं किया गया। भाव का उत्कर्ष साधने के लिए सामग्री का भारी आटोप किया गया है। अनुभावों की योजना बहुत कम है। वियोग में अश्रु और उत्कण्ठा का बाहुल्य है। हावों का भी कोई विधान नहीं दीख पड़ता। विभावों के साथ बड़ी सहृदयता से काम लिया गया है। उद्दीपनों के उपयोग में कवि ने अपनी कला और भावुकता का सुन्दर परिचय दिया है। कवि की दृष्टि गूढ़ मानसिक विकारों तक न पहुंच कर भावोत्कर्ष की ही ओर लगी रही है। विप्रलंभ-शृंगार के अन्तर्गत भी, जहाँ भाव-सामग्री की गहनता है, मानव-प्रकृति का सूक्ष्म अध्ययन नहीं मिलता। नारी-जीवन के प्रति कवि संवेदनशील है। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्णन पारंपरिक रीति से हुआ है। कदाचित वात्सल्य की प्रेरणा सूर से मिली है। व्यक्तीकरण नवीन है, परन्तु यहाँ सूक्ष्म मानसिक अवस्थाओं का वैसा विश्लेषण नहीं है। छन्दक सुमन्त्र का प्रतिबिम्ब-सा दीख पड़ता है। तत्वों का निरूपण, शकुन में आस्था,

प्रदीपदान-प्रथा भक्ति में निष्कामता आदि बातें कवि के सांस्कृतिक आग्रह की परिचायक हैं। गुप्तजी का देश-प्रेम प्रायः उनके सब ग्रंथों में झलकता है। यहाँ भी मंगलाचरण में उसका सूक्ष्म रूप मिल जाता है

इसी देश में हमें जन्म दो,
लो, प्रणाम हे नीरजनाम।

साहित्य और सौन्दर्य

सौन्दर्य सृष्टि का वह तत्त्व है जिसके द्वारा चेतन आनन्द को मूर्तरूप में ग्रहण करता है। यह आवश्यक नहीं कि सौन्दर्य का आधार कोई भौतिक पदार्थ ही हो। सृष्टि में जितनी सत्ता मूर्त की है उतनी ही अमूर्त की भी। शरीर में केवल रक्त, मज्जा, चर्मादि ही नहीं है, हृदय भी है। जीवन के लिए चर्मादि की अपेक्षा द्वारा भावना की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सौन्दर्य का रूप हृदय में बनता है। उसी का प्रतिरूप बाह्य जगत में दीख पड़ता है। बाह्य सौन्दर्य का आधार चाहे कितना ही अस्थिर हो मूल सौन्दर्य तत्त्व विश्व में अनादि सत्ता लिए हुए है। सुमन मुरझा गया और विदलित हो गया, तो क्या? गन्ध-सौन्दर्य की व्यापकता में क्या अन्तर आया? आधार में जितनी शक्ति होती है सौन्दर्य में उतनी ही तीव्रता होती है। विद्युत-तत्व में शक्ति का आश्रय लेकर ही सौन्दर्य प्रकाश-तीव्रता ग्रहण करता है। सौन्दर्य सहकारी-परिणाम तत्व है। इसके पर्दे में ही इसके परिणामी 'सत्य-शिव' का संनिवेश है। सौन्दर्य के लिए मानव-स्वार्थ सापेक्ष्य नहीं है, सापेक्ष्य है उसकी महत्ता, उसमें अन्त-र्निहित शिवत्व जिसकी पूर्णता सत्य के बिना सिद्ध नहीं होती।

हां, तो सौन्दर्य का निगूढ़ पक्ष सत्य और शिव है जो उसी के समान ही अनादि हैं। तीनों तत्त्वों की समन्वित अनादिता

से उनकी अनन्तता स्वभावतः ही संकेतित हो जाती है। अतः सौन्दर्य की कसौटी अनादि अनंतता है।

साहित्य में भी सौन्दर्य की परीक्षा इसी से की जा सकती है। साहित्य अपने दोनों पक्षों भावपक्ष और कलापक्ष में सौन्दर्य का बल लेकर ही खड़ा होता है। भाव-पक्ष मे सौन्दर्य शब्दों में नहीं, उनकी शक्ति, उनसे निकलने वाली ध्वनि में विनिविष्ट रहता है। वहां उसे अमूर्त कहना ही अधिक समीचीन है, किन्तु कलापक्ष में सौन्दर्य का मूर्त रूप प्रबल होता है, यद्यपि अमूर्त सौन्दर्य का नितान्त अभाव तो वहां भी नहीं कहा जा सकता। कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को ही कहा गया है, किन्तु कला स्वयं सौन्दर्य नहीं है; वह तो नित्य तत्व के मूर्तीकरण का साधन मात्र है। अथवा यों कहिए कि कला उस कल के समान है जिससे विद्युत्कण संकलित होकर शक्ति प्राप्त करते हैं और भावों में उस स्विच की क्रिया है जो शक्ति को अधिकृत करके प्रेरित व प्रेषित करता है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए एक ढब अथवा शैली विशेष की आवश्यकता होती है, उसी को कलाकौशल कहते है। साहित्य का कला-पक्ष जीवन का रूप ढालता है और भाव-पक्ष उसमें सरसता और माधुर्य भरता है। कुछ लोग साहित्य को जीवन का प्रतिबिम्ब कह देते हैं, हर प्रतिबिम्ब में निर्जीव को सजीव करने की, सोते को जगाने की, मुर्दे को उठाने की शक्ति नहीं होती और साहित्य अपनी शालीनता से व्यक्तियों को ही नहीं राष्ट्रों तक को पुनर्जीवन प्रदान कर

देता है। इसमें तथ्य न पाने वालों के लिए रूसो और वाल्टेअर के लेख प्रमाण हैं।

साहित्यकार के लिए सौन्दर्य का अभाव नहीं है। वह उसे कहीं भी खोज लेता है। शब्द, अर्थ, भाव, लक्ष्य, प्रभाव, उक्ति, व्यापार, घटना, दृश्य, वर्णन, चरित्र, अनुभूति, रूप, वस्तु (कथा), अन्तर बाहर, अतिरेक, अभाव, समन्वय, रीति, अलंकार, रस, विषय, निर्वाह, संश्लेषण, विश्लेषण आदि अनेक साहित्यिक उपकरणों में वह सुन्दर का आह्वान कर सकता है।

मृणाल के साथ जल में विहार करते हुए मराल की कल्पना से सौन्दर्य का उत्स बहाने के लिए कवि उन्मत्त होकर गा उठता है :

स्वर्गंगा में जल-विहार जब
करती, बाहु-मृणाल !
पकड़, पैरते इन्दु-बिम्ब के
शत शत रजत मराल ।

भाव और अलंकार के समन्वित सौन्दर्य का निरीक्षण कीजिए:-

पुलकित कदंब की माला सी
पहना देती हो अंतर में ;
झुक जाती है मन की डाली
अपनी फलभरता के डर में ॥

पार्वती मंगल

'शिव-विवाह' या 'पार्वती परिणय' प्राचीन कथानक है। अनेक पुराणों में इसका उल्लेख है। देवी भागवत, ब्रह्म, लिङ्ग, स्कन्ध और शिव पुराण में इसका उल्लेख होने के अतिरिक्त, महाकवि कालिदास ने तो एक बृहद् काव्य ही लिख डाला है। शिव पुराण के सिवा पुराणों मे अन्यत्र यह वर्णन कुछ संक्षेप में मिलता है। शिव पुराण की द्वितीय रुद्र संहिता के तृतीय खण्ड में केवल 'पार्वती जन्म और परिणय' का ही प्रकरण है।

शिव पुराण और कुमारसम्भव में कौन किसका ऋणी है, यह शंकाग्रस्त बात है। किन्तु दोनों कथाओं में कुछ मौलिक अन्तर है। यह बात दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी ने 'तुलसी के चार दल' में पुराणों और कुमारसंभव के वर्णनों में अन्तर दिखाते हुए लिखा है कि 'उनमें केवल इतिवृत्तात्मक वर्णन है। कुमारसंभव का वर्णन रसात्मक है।'' यह मत मुझे भी मान्य है। शिव पुराण में वस्तु-प्रसार और कुमारसंभव में रस-प्रसार की ओर प्रवृत्ति रक्खी गई है। पहला घटना-प्रधान है, दूसरा रस प्रधान। यदि एक में इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि अमुक घटना के समावेश से कथा में पूर्णता आएगी, तो दूसरे में यह प्रयत्न किया गया है कि अमुक उक्ति और प्रकार से कथा सरस बनेगी। पुराण को कथाप्रधान, काव्य कहें तो कुमारसंभव को

कवित्व-प्रधान कथा कहेंगे। शिव पुराण की कथा कुमारसंभव की कथा से कुछ पहले की घटनाएं लेकर प्रारंभ होती है। कालिदास ने हिमालय के वर्णन के पश्चात् पार्वती-जन्म और बालक्रीड़ा का संकेतमात्र देकर पार्वती के विस्तृत नख-शिख का वर्णन किया है। पुराण में मिलने वाले जन्मप्रकार, जन्मोत्सव, नामकरण, बालक्रीड़ा को लगभग छोड़ ही दिया है। कुमारसम्भव में नारदजी ने किसी समय पिता के समीप उस कन्या (पार्वती) को देखकर यह आज्ञा दी कि यह निश्चित रूप से प्रेम द्वारा शिवजी के आधे शरीर को हरनेवाली एक पत्नी होने वाली है। शिवपुराण में यही बात गूढ़ शब्दों में कही जाती है जिसका स्पष्ट आशय समझ कर उमा के माता-पिता दुःखी होते हैं। पार्वती के ध्यान में शिव का आविर्भाव और श्री रुद्र का पार्वती की प्राप्ति के लिये हिमालय के पास जाना—ये वर्णन भी कालिदास ने छोड़ दिये हैं। पुराण में शिव की तपस्या का कारण स्पष्ट रूप से दिया है कि गणों के साथ शिवा को मनमें धारण कर के हिमालय पर रुद्र तप करने लगे। कुमारसम्भव में यह उद्देश्य स्पष्ट न करके केवल इतना लिखा है "स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापिकामेन तपश्चचार।" इसमें पुराण की तरह हिमालय का शिव-दर्शन और सम्भाषणादि वर्णन नहीं है और न पार्वती के साथ शिव-दर्शन को गये हुए हिमालय से 'कन्या के साथ फिर कभी मत आना' इस प्रकार शिव के कहने पर पर्वतराज के विनय प्रकाश का ही उल्लेख है।

शिवपुराण में इन्द्र की स्तुति से काम हर्षपूर्वक वसन्त के साथ शिव के निकट आ पहुँचता है और निर्भय होकर शिव पर अपने सम्मोहनादि बाण छोड़ता है, किन्तु कुमारसम्भव में शिवजी को देखते ही काम के धनुष बाण भी गिर जाते हैं।

कामदाह के अनन्तर देवप्रार्थना से शिव उसकी पुनः संजीवनोक्ति कहते हैं। कुमार सम्भव में देवप्रार्थना का कोई ज़िक्र नहीं। रति के विस्तृत विलाप के समय आकाशवाणी से उसे सान्त्वना मिलती है। कुमारसम्भव के अनुसार पार्वती तदन्तर अपने पिता की अभिलाषा को और अपने सुन्दर शरीर को व्यर्थ समझ कर सखियों के सम्मुख अधिक लज्जावाली निरुत्साह होकर कष्ट से भवन को जाती है और हिमवान् शिव-कोप से भीता पार्वती को घर ले जाते हैं। फिर पार्वती तपः साध्य प्रेमद्वारा शिव को पाने की इच्छा से मुनिव्रत लेने का विचार करती है, जिससे मैना निवारण करने का उद्योग करती है; किन्तु वह सफल नहीं होती। अन्त में उमा सखी मुख से पिता से तप की समाधि के लिये वनवास मांगती है और घोर तप करती है। शिवपुराण में कामदाह के अनन्तर शिव के अन्तर्धान हो जाने पर पार्वती का विरह-दुःख और नारद से पञ्चाक्षर मन्त्रोपदेश प्राप्ति और माता-पिता के आदेश से शिव प्राप्ति के लिये पुनः मुनि दुष्कर तप का वर्णन है।

पार्वती की तपोग्नि से भयभीत होकर देवों के भयलोक

आने और विष्णु के साथ पार्वती की तपोभूमि को देख कर शिव-सान्निध्य प्राप्त करने का वर्णन कुमारसम्भव में नहीं है।

ब्रह्मा विष्णु आदि के आग्रह से शिव पार्वती के पाणिग्रहण को स्वीकार करते हैं, इसका कुमारसंभव में कोई उल्लेख नहीं है। शिवपुराण में पार्वती-प्रेम की परीक्षा दो बार की जाती है- पहले सप्तर्षियों द्वारा, फिर जटिल रूपधारी स्वयं शिव द्वारा ; किन्तु कुमारसम्भव में वटु वेष धर शिव ही परीक्षा लेने जाते हैं। कुमारसम्भव में परिणय के लिए शिव की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर पार्वती शिवजी के पास एकान्त में अपनी सखी भेजती है कि हिमवान् मेरे दाता हैं उनके पास आप सन्देश भेजें। इस अवसर पर शिवजी सप्तर्षियों को आमन्त्रित कर उन्हें उमा संदिष्ट कार्य के लिये हिमालय के पास भेजते हैं; शिवपुराण में शिव के अन्तर्धान के अनन्तर महोत्सवपूर्वक पार्वती पिता के घर जाती हैं।

जटिलरूप शिव के वाक्यों से भिन्नहृदय वाली मेना का शिव के लिये अपनी कन्या के दान में दुराग्रह पाकर शिव की आज्ञा से सप्तर्षि हिमालय के घर जाते हैं और हिमालय और मेना को सान्त्वना देते हैं। यहां सप्तर्षियों ने शिव-पार्वती-विवाह की घटना को साध कर अपने लोक को लौट जाने पर, हिमवान् शिव के लिये पत्रिका लिखते हैं; किन्तु कुमारसम्भव में इस

पत्रिका का कोई उल्लेख नहीं है। हिमालय से पूछे जाने पर सप्तर्षि ही वैवाहिक तिथि निश्चित कर जाते हैं।

वर–वधू–पक्ष के विवाहाटोप का जैसा विस्तृत वर्णन पुराण में है वैसा कुमारसम्भव में नहीं। कालिदास ने शिव रूप का अति आकर्षक वर्णन किया है। नारियाँ शिव के रूप को देख कर यह कहने लगती हैं

'स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थं
मपर्णया पेलवयापि तप्तम्।
या दास्यमप्यस्य लभेत नारी।
सा स्यात् कृतार्था किमुताङ्कशय्याम्॥

अर्थात् कोमल सी पार्वती ने इन शिवजी के निमित्त योग्य दुश्चर तप किया क्योंकि जो स्त्री उनके हास्य को भी प्राप्त करले वह कृतार्थ हो जाए और जो अङ्क शय्या को प्राप्त करले उसका तो कहना ही क्या !

और भी,

न नूनमारूढरुषा शरीर
मनेन दग्धं कुसुमायुधस्य
व्रीडादमुं देवमुदीक्ष्य मन्ये
सन्यस्तदेहः स्वयमेव कामः॥

अर्थात् उत्पन्न हुये क्रोध वाले इन से (शिवजी से) अवश्य कामदेव का शरीर नहीं जलाया गया अपितु काम ने इनको देख कर लज्जा से आप ही शरीर का त्याग कर दिया, यह मानते हैं।

वरात के आने पर सब को हर्ष होता है, परन्तु पुराण में शिव को देख कर दर्शक भयभीत होकर भागने लगते हैं। द्वितीय रुद्र संहिता के ४३ वें अध्याय में अपनी कन्या के वर शिव को देखने के लिये आई हुई मेना के मोहने के लिये शिवकृत लीला का और ४४ वें में शिवलीला से मोहित मेना के मोहनिवारण का वर्णन है। ४५ वें अध्याय में शिव का दिव्य स्वरूप में आविर्भाव होता है। मंडप द्वार पर आए हुए शिव की सब स्त्रियों के साथ मेना द्वारा की हुई नीराजना का भी कालिदास ने कोई वर्णन नहीं किया।

इसके बाद पुराण में वैवाहिक कृत्यों और लोकाचारों, स्त्री-विनोद आदि का वर्णन है। ५२ वे अध्याय में भोजन समारम्भ का वर्णन है जिसको कुमारसम्भव में कोई स्थान नही मिला। इसके बाद कैलास-गमन होता है और पुराण का पार्वती खंड भी समाप्त होता है, किन्तु कालिदास का वर्णन और आगे चलता है। पार्वती-मंगल की कथा भी यहीं समाप्त हो जाती है।

इन दोनों ग्रन्थों के इस विश्लेषण से अब पार्वती मंगल का आधार निश्चित करना सरल होगा। गोस्वामी जी ने शिव-पार्वती-विवाह को दो स्थानों पर लिखा है एक तो सतीमोह के साथ २ रामचरितमानस में, दूसरा 'पार्वती मङ्गल' के नाम से स्वतन्त्र रूप में। दोनों में क्रमशः शिवपुराण और कुमारसंभव

आदर्श रहे हैं ; परन्तु 'मानस' के 'शिव' विवाह में केवल पुराण और पार्वतीमङ्गल में पुराण और कुमारसम्भव दोनों से सहायता ली गई है। दोनों में कवि ने कुछ मौलिक परिवर्तन भी कर दिए हैं। पार्वतीमङ्गल में विशेष सहायता कुमारसम्भव के पाँचवें और छठे सर्ग से ली गई है। नीचे पार्वती मङ्गल के आधार पर तथा कथानक पर विचार करते हैं।

पार्वती मङ्गल में मेना के पूछने पर नारद मुनि शिवपुराण के अनुसार गूढ़ शब्दों में सूचना देते हैं कि,

विधि लोक चरचा चलति राउरि
चतुर चतुरानन कही।
हिमवानु कन्या जोगु वरु बाउर
विबुध बंदित सही॥

यहाँ पर कवि ने कुमारसम्भव से सहायता नहीं ली, क्योंकि वहाँ नारद ने स्पष्ट कह दिया है कि यह कन्या प्रेम से शिव की एकमात्र अर्द्धाङ्गिनी बधू होगी। नारद की गूढ़ गिरा सुन कर पुराण के समान ही मंगल में दम्पति को दुःख होता है। फिर माता-पिता से आज्ञा पाकर पार्वती शिवाराधन में प्रवृत्त होती है। तारकासुर का यहां कोई उल्लेख नहीं है। पुराण और कुमारसम्भव दोनों में तारक से सन्त्रस्त होकर देवजन ब्रह्मा से विनय करते हैं और ब्रह्मा उन्हें युक्ति बतलाते हैं जिसके सम्पादन के लिए इन्द्र काम को

बुलाकर उसे प्रशंसा-पूर्वक वचनों से समाधिस्थ शिव के मन को क्षुब्ध करने के लिए भेजता है, किन्तु पार्वती मङ्गल में सब देव मनोज को बुलाते हैं 'देव देखि भल समय मनोज बुलाएउ'। 'कामदाह' और 'रतिविलाप' में क्रमशः दो और एक पंक्ति ही दी गई है।

'मङ्गल' में कुमारसम्भव का अनुकरण करते हुए शिव ही वटु वेश धरकर उमा की प्रेम-परीक्षा लेने जाते हैं। शिव और पार्वती संम्भाषण का आधार भी कुमारसम्भव ही है। इस प्रकरण में तुलसीदास ने कालिदास का सब से अधिक अनुकरण किया है। अनेक स्थलों पर अनुवाद की झलक भी आगई है। पार्वती के अटल प्रेम से मुग्ध होकर शिव प्रकट होते हैं और 'तवास्मिदासः क्रीतस्तपोभिः' के अनुवादस्वरूप तुलसी भी पार्वतीमङ्गल में उनसे यह कह सकते हैं कि 'पार्वती! तप प्रेम मोल मोहि लीन्हेउ'।

पार्वती का सखीमुख से शिव के पास अपनी विनय भेजने और विवाह के निश्चय करने के लिये शिव का सप्तर्षियों को बुलाकर हिमवान् के पास भेजने, हिमवान् द्वारा उनके स्वागत करने और वैवाहिक तिथि निश्चित करके लौट आने के प्रकरण कुमारसम्भव के आधार पर हैं। कुमारसम्भव में लग्नपत्रिका का कोई उल्लेख नहीं, यह उल्लेख पुराण में है। इसके अनन्तर पार्वतीमङ्गल के वर्णन शिव बारात, वर को देखना, मेना का मोह, शिव का दिव्य रूप में प्रकट होकर मेना के मोह का

निवारण; द्वार पर मेना द्वारा शिव की नीराजना, पाणिग्रहण आदिक वर्णन शिवपुराण के वर्णनों से प्रभावित हैं ।

पार्वतीमङ्गल में कुमारसम्भव और पुराण दोनों ही के वर्णन संक्षिप्त कर दिए गए हैं । कहीं कहीं घटनाएँ भी छोड़ दी गई हैं । इस कतर-छांट में ही कवि की मौलिकता है । पार्वती मङ्गल की कथा का आधार कुमारसम्भव है, किन्तु तुलसी और कालिदास के आदर्शों में विभिन्नता है । एक का दृष्टिकोण भक्ति की अक्षुण्णता की ओर है और दूसरे का काव्य की पूर्णता की ओर । नखशिख, विरह-विलाप, स्तुति, संवाद आदि के बल पर ही एक छोटे से कथा-वस्तु को लेकर कालिदास ने कुमारसम्भव जैसा वृहद् ग्रन्थ रच डाला है। इसमें कवित्व का प्रदर्शन तो अवश्य है, किन्तु कथा-प्रवाह में बड़ी बाधा पड़ती है । तुलसीदास का कथा-प्रवाह इस त्रुटि से मुक्त है और अनन्य भक्ति-भावना से प्रेरित होकर उसे अक्षुण्ण रखने के लिए ही वह (तुलसी की कथा का प्रवाह) श्रद्धा और भक्ति का पोषण करता हुआ उसके प्रतिपादन के लिए चलता है । उसमें इस आदर्श को छिपाने वाले वर्णन भी नहीं मिल सकेंगे । वे कोई बात ऐसी नहीं लिख सकते जिससे भक्ति पर ठेस लगे । तुलसीदास ने शिव और पार्वती का कहीं ऐसा वर्णन नहीं किया,

"रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः
स्विन्नांगुलिः पुंगवकेतुरासीत् ।

वृत्तिस्तपोः पाणिसमागमेन
समं विभक्तेव मनोभवस्य ।"

यद्यपि यह वर्णन स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक तथ्य को लिये हुये है, परन्तु ऐसे वर्णन से भक्त की (साधक Beginner की) भावना में कुछ शिथिलता, कुछ चञ्चलता आजाना भी स्वाभाविक है। इस दृष्टिकोण से तुलसीदासजी ने ऐसे वर्णन निकाल दिए हैं। वे तो पहले से ही हृदय पटल पर उस श्रद्धा और पूज्य भाव की प्रतिष्ठा कर देते हैं जिसके पतन की कोई सम्भावना ही न हो। "उमा को आता हुआ देख कर देवता लोग भी पूज्य भाव से प्रणाम करते हैं और अपने जन्म को सुफल समझ कर सुखी होते हैं"

भला जो उमा देव-पूज्या है वह नर-पूज्या क्यों न होगी। इससे कालिदास और तुलसीदास के आदर्शों का मौलिक अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

नंददास का दशम स्कंध

नंददास का दशम स्कंध भागवत दशमस्कंध का अनुवाद है। जैसा कि नाम से सहसा सूचित होता है कि इसमें समस्त दशम स्कंध की कथा होगी, यह बात नहीं। भागवत दशम स्कंध के केवल प्रथम २६ अध्यायों की ही कथा यहाँ कही गई है, जिसमें भागवत द्वितीय स्कंध, अध्याय १० के प्रथम ६ श्लोक प्रस्तावना के रूप में जुड़े हुए है। इन ६ श्लोकों में भागवत के दस लक्षणों का विवरण है। भागवत से मतान्तर रखते हुए नंददास ने ६ लक्षण माने हैं। जो इन ६ लक्षणों से लक्षित है उसी को आश्रय कहा है; किन्तु आश्रय के विषय में भागवत का मत है कि 'इस चराचर जगत् की प्रतीत और बाध उत्पत्ति और प्रलय - जिस तत्व मे प्रकाशित होते हैं वह परम ब्रह्म ही आश्रय है।

इसके अनन्तर भागवत दशम स्कंध में भागवत के किस लक्षण का उद्घाटन है इसकी सूचना दी गई है। कवि ने बतलाया है कि भागवत के दशम स्कंध मे 'निरोध' का निरूपण किया गया है। निरोध की व्याख्या के विषय में भी भागवत और नंद के मत में अन्तर है। "दुष्ट नृपन कौ हरन ज्वोध, ताकौं बुधजन कहत निरोध," यह नंददास का मत है और "निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः', अर्थात् जब भगवान् योग निद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब जीवों का उपाधियों के साथ उनमें लीन हो जाना 'निरोध' है," यह भागवत का

मत है । इसी प्रस्तावना के अन्तर्गत नंददास ने पंक्ति ३६ से ४८ तक 'निरोध' के भेद लक्षणों और उदाहरणों के साथ कहे हैं। 'निरोध' गोद भागवत का विषय नहीं और न कोई एकमात्र ग्रंथ इस विषय का आधार प्रतीत होता है । श्रीयुत उमाशंकरजी शुक्ल, एम.ए. द्वारा संपादित 'नंददास' की भूमिका में हमें इस विषय में यह सूचना मिलती है "दशम स्कंध (पूर्वार्ध) के संपादक श्री कर्मचन्द गुग्लानी ने उक्त ग्रंथ की भूमिका में यह बतलाया है कि नंददास ने अपने ग्रंथ में 'श्रीमद्भागवत' के टीकाकारों के कुछ भावों का भी समावेश कर लिया है। उनके अनुसार 'दशम स्कंध' में श्रीधर स्वामी की 'भावार्थ दीपिका', श्रीमज्जीव गोस्वामी कृत 'वैष्णव तोषिणी' और 'श्रीमद्वल्लभाचार्य-कृत 'सुबोधिनी' से भी कवि ने सहायता ली है। नंददास अपने ग्रंथ को पुष्टिमार्गीय सभी उपसंप्रदायों में समादृत कराना चाहते थे, इसीसे उन्होंने इन आचार्यों के भावों को अपनाया है। यह बतलाया गया है कि वल्लभाचार्यजी के अनुसार श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में 'निरोध' का वर्णन है तथा श्रीधर स्वामी के मत से उसमें 'आश्रय' का वर्णन है। निरोध के शब्दार्थ में भी दोनों आचार्यों में मतभेद है। नंददास ने दोनों के मतों का समावेश कर लिया है"। नंददास ने वल्लभ के मत को स्वीकार करते हुए दशम स्कंध में 'निरोध' का निरूपण ही माना है। "दशमें मधि जु निरोध बखान्यौं, दुष्ट नृप-दलन सब ही जान्यौं"।

पंक्ति ४८ के पश्चात्, 'परीक्षित' नामको कारण, परीक्षित और शुकदेवजी के योग्य श्रोता और वक्ता होने का वर्णन है। पं० ६० से 'दशम स्कंध' की कथा प्रारम्भ होती है। कथा कहने में कवि की अनुवादमूलक प्रवृत्ति ने काम किया है, किन्तु इसे ऐकान्तिक शब्दानुवाद नहीं कह सकते। भागवत से इसकी तुलना करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि नंददास के दशम स्कंध में (१) कहीं कहीं भागवत का शब्दानुवाद है, (२) कहीं कहीं भावानुवाद है, (३) कहीं-कहीं भाव परिवर्तन है, (४) (i) कहीं-कहीं सौन्दर्योत्पादन के लिए संयोजनाएँ हैं, (ii) कहीं-कहीं साम्प्रदायिक एवं भक्ति भावनाओं के पोषण के लिए संयोजनाएँ हैं, (iii) कहीं-कहीं भावप्रकाशन की सरलता के लिए उदाहरणरूप संयोजनाएँ हैं (iv) कहीं-कहीं दो घटनाओं या कथाओं के सूत्र को संयुक्त करने के लिए संयोजनाएँ हैं; (v) कहीं-कहीं काव्यकला एवं बहुज्ञता प्रेरित संयोजनाएँ हैं; (vi) कहीं कहीं समकालीन प्रभाव प्रेरित संयोजनाएँ हैं, (५) कहीं-कहीं अवहेलनात्मक परित्याग है, (६) कहीं-कहीं अनुवाद में क्रम-भेद है, (७) कहीं-कहीं भावुकतावश अतिशयोक्ति का सन्निवेश है।

१. ऊपर कहा जा चुका है कि कवि की प्रवृत्ति अनुवाद की ओर रही है, अधिकांश स्थानों के शब्दानुवाद में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। भागवत जैसे ग्रंथ का शब्दानुवाद, जिसमें विद्वानों के पांडित्य की परख होती है, कोई हँसी खेल

नहीं है, किन्तु नंददासकृत शब्दानुवाद स्पष्ट, सरल और सुगम है। शब्दों का चयन कवित्वपूर्ण और ग्रन्थन ठोस है; एक कुशल कलाकार की कृत की भाँति शब्द अपने-अपने स्थान पर जड़े हुए हैं; किसी को लाने या निकालने की गुंजाइश नहीं। कथा भाग के अतिरिक्त लीला और धाम के वर्णनों मे कवि प्रतिभा शब्दानुवाद की ओर अधिक तत्पर रही है।

२. जहाँ कहीं भाव में संकीर्णता, भाषा में पुनरावृत्ति दोष एवं शब्दानुवाद से भावानुवाद में अधिक चमत्कार अथवा सौन्दर्य लाने की इच्छा हुई है, वहीं कवि भावानुवाद की ओर झुक गया है; यथा

निपट निकट, संगम अगम,
जिमि दर्पन में छाँह।
जदपि रहति आगे तदपि,
मिलै न भरि भरि बाँह॥
तु० की०

अर्भेर्यथा दारुवियोगयोगयोर-
दृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्य,
शरीर संयोगवियोगहेतु:॥

और भी,

डरतौ तोहि अठयैं गर्भ कौ,
नहिं याकौ नहिं अवर अर्भ कौ।

हौं तोहि दैहौं सिगरे तात,
छुये कहत यह तेरौ गात ॥

तु० की०

न ह्यस्यास्ते भयं सौम्य यद् वागाह्शरीरिणी।
पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम् ॥

भाव सौन्दर्य के लिए भावानुवाद

फुही फूल से परत सुदेस,
ते सहि सक्यो न सेवक सेस।
प्रेम मगन सुगगन में आइ,
लयो फनन को छत्र बनाइ ॥

तु० की०

ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जित:
शेषोन्वगाद् वारिनिवारयन् फणैः।

२. अनेक स्थलों पर कवि ने भावों को परिवर्तित भी कर दिया है। ऐसा करने में प्रधानतया कवि की स्वभाविक सौन्दर्य-भावना ने ही काम किया है, या उन स्थानों पर परिवर्तन दीख पड़ता है जिनमें नंददास के भक्तिमत पर कुछ आघात होने की किंचित् भी संभावना है। कभी-कभी तो कवि ऐसे स्थलों की अवहेलना ही कर देता है अन्यथा भाव-परिवर्तन का आश्रय लेता है। जैसे,

"पियतमये सुन्दर नँद नंद,
मुसकत जात मंद छवि कंद।"

भागवत में इस प्रकार का भाव नहीं। वहाँ मुसकाते हुए पीना नहीं, पीते हुए रोष करना है। तुलना कीजिये

"गाढ़ं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य
तत्प्राणै समं रोष समन्वितोऽपिवत्।"

'रोष समन्वितो' और 'मुसकत जात' इन दोनों शब्दों में भारी अन्तर है। रोष का सम्बन्ध तमोगुण से है और मुसकाने का सतोगुण से; इसलिए भगवान् को रोष से युक्त कहना उनमें तमोगुण दिखाना है जो उनके स्वभाव के साथ मेल नहीं खाता। यदि यह कहा जाय कि भगवान की माया अपनी किसी वृत्ति का आवश्यकतानुसार आश्रय ले सकती है, तो ठीक है; किन्तु जब मुस्कराहट से ही सहज में काम चल जाय तो फिर रोष की आवश्यकता ही कहाँ? अतएव रोष' की अपेक्षा 'मुसकत' में कहीं अधिक सौन्दर्य है।

यह बात नहीं कि कवि सर्वत्र ही भावसौन्दर्य लाने में सफल हो सका है। कहीं कहीं सौन्दर्य के स्थान पर असौन्दर्य भी आ गया है, जैसे, 'कहत कि वह सिसु हाथ न आयौ, यह कोउ गिरिवर आइ उठायौ। लरिकहि डारन कौं अरबरे, लरिका उरपि धुरि गायौ गरे। तुलना कीजिये

"तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया।
गलेऽगृहीत उत्स्रष्टुं नाशक्नोदद्भुतार्भकम्॥

(अर्थात् अपने से भी अधिक भारी होने के कारण उसे

कृष्ण चट्टान के समान प्रतीत हुए और गले में पकड़ा हुआ वह (राक्षस) उस बालक को गिराने में समर्थ न हुआ।

भागवत से भगवान् की अमित शक्ति का परिचय एवं स्मरणलाभ होता है, किन्तु 'दशमस्कंध' में बालक की स्वाभाविक क्रिया का परिचय मिलता है।

"लरिका डरपि धुरि गयौ गरे" इस उक्ति से नंददास कोई भावसौन्दर्य या चमत्कार नहीं ला सके हैं। गिराते समय बालक का डर कर गले से चिपट जाना स्वाभाविक अवश्य है, किन्तु जो बालक भार में एक भयंकर, बलवान् राक्षस को भी इतना बोझिल प्रतीत होता है कि वह उसे चट्टान समझ कर फेंकना चाहता है एवं जिसके गला पकड़ते ही वह राक्षस प्राणों से हाथ धो बैठता है, उसके लिए एकान्त में डर जाना उचित नहीं प्रतीत होता। यदि गोपी गोपों की आँखों के सामने भी वह दृश्य हो रहा होता और उस समय लीला मानव भगवान् कृष्ण राक्षस के गिराने पर अपना डर प्रकट करते, तो यह शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता, किन्तु ऐसे स्थल पर जहाँ स्वयं राक्षस को भी बालक की उपस्थिति का ज्ञान नहीं, उसको डरा हुआ बता देने से सौन्दर्य का ह्रास होता है।

४. (1) कवि ने अनेक स्थलों पर भावों में सौन्दर्य लाने के लिए अपनी ओर से कुछ मौलिक संयोजनाएँ की हैं। भागवत में गोपियों के उलहाने पर यशोदा केवल हँस भर जाती है,

किन्तु उलाहना देने वाले की बात को हँसकर टाल देना मनोविज्ञान के विरुद्ध है। इस से उपालंभी को और भी चिढ़ होती है। नन्ददास ने इस मनोवैज्ञानिक अभाव के कारण होनेवाले असौन्दर्य को पहचान कर यशोदा के मुस्कराने में उनकी मनुहार और अनुनय-विनय को भी जोड़ दिया है। देखिए,

यह सुनि आनँद भरि नँदरानी।
तिनसैं कहति मुसकि मधुबानी।
वलि वलि तौ तुम ऐसैं करौ,
दिन दस भाजन ऊँचे धरौ।
जब लगि याकी बुद्धि अयानी,
तब लगि तुम ही होहु सयानी॥

इसी प्रकार अन्यत्र,

यशोदा गोपियों से "वारी तौ तुम ऐसै करौ, लै दधि दूध अँध्यारे धरौ।"

और भी

आँधी-अँधेरी वर्षा की रात्रि में अपने नवजात शिशु को अपनी छाती से अलग करके तथा ऐसे मार्ग से भेज कर जिसमें उसके जीवन पर पद-पद पर संकट हो, माँ के हृदय की क्या दशा होती है, उसमे कैसी उथल-पुथल मचती है एवं वह किस प्रकार मंगल कामना करती है, इसका सुन्दर चित्र खींचने के लिए कवि ने यह संयोजना की है:

इत सोचति देवकि महतारी,
ह्वै है मेरौ ललन दुखारी।
भरि भादौं की रैनि अँध्यारी,
लहलहाति बिजुरी बजमारी॥
बहरयौ बीच कलिन्दी भारी,
भरि रही नीर भयानक भारी,
चंद सौ बदन दुरयौ नहिं रहि है,
दैया कोऊ दूरि तै लहि है॥
डोलत बहुत कंस के दूत,
दैव धुसर सौं जै है पूत॥
यौं बिललाइ देवकी माइ,
कहति कि हो हरि तुमहिं सहाइ।
निरख्यौ जदपि पूत परभाउ,
तदपि प्रेम कौ यहै सुभाउ।

(ii) भक्ति-भावना के पोषण के लिए भी कहीं कहीं कवि ने अपनी ओर से संयोजनाएँ करदी हैं, उदाहरणार्थ भागवत में दूध के उफनने और उसे देखकर दूध पीते हुए अतृप्त कृष्ण को छोड़कर उसे उतारने के लिए चले जाने का वर्णन है। इस विषय में कविजन अनेक बातें कहते हैं। पुत्र की संगति में कृष्ण को छोड़कर दूध के लिए दौड़ना यशोदा की तृष्णा है; किन्तु ऐसा कहने से भक्ति की गुरुता में बट्टा लगता है; इसलिए त्वरित ही नन्ददास कहते हैं

"कोइक कवि कहैं तृष्ना बौरी,
हरि परिहरि जु दूध कौं दौरी।
ते कछु प्रेम-मरम नहिं जाने,
जिहि विधि श्री सुकदेव बखाने।
या करि ब्रह्मानन्दजु हरुवौ,
भजनानन्द दिखायौ गरुवौ।

और भी,

नीचे की पद्य में भी कवि भक्ति की महिमा दिखाता हुआ बतलाता है कि यशोदानन्दन भगवान् कृष्ण जितने सुखद भक्तों को हैं उतने देहाभिमानी या ज्ञानी को नहीं

हो नृप ! ये जु जसोदा नंदन,
नित्य अनूप रूप जग वन्दन।
भक्तिवंत कहँ सुखद हैं जैसे,
तन अभिमानी कौं नहिं तैसे।
बहुत जुगति जौ जीवत लहियै,
सो मुनि तन-अभिमानी कहियै।
ग्यानी पुनि यह सुखहि न जानै,
नीरस निराकार परवानैं।
गत-अभिमान न यह सुख लहै,
देहादिक कहुँ माया कहै।
पायौ जु कछु नन्द की घरनी,
अपै परति सु महिमा बरनी॥

और भी,

कालिय नाग के विष की उग्रता से यमुना को समस्त जल विषाक्त होगया था। विष की ज्वाला से इधर उधर के वृक्ष भी जल गये थे; केवल एक कदंब बच गया था। वह कैसे बच रहा था, इसके विषय में कहा गया है-

ताही ढिग इक मृदुल कदंब ;
सो छ्वै सक्यौ न विष कौ अंब।
या पर कृष्न चरन परसि हैं,
इहि चढ़ि या दुष्टहि करसि हैं।
भावी जा कदम्ब की ऐसैं,
विष जल परसि सकै तिहि कैसैं।
ऐसै ही भावी भक्त जु आहि,
कालादिक छ्वै सकत न ताहि।

(iii) बहुत से स्थल भागवत में ऐसे हैं जिनके स्पष्टीकरण की बड़ी आवश्यकता है। उदाहरण से भाव-स्पष्टीकरण में बहुत सरलता और सुगमता होती है, इसी अभिप्राय से नन्ददास ने यत्र तत्र उदाहरणों और उपमाओं की संयोजना करदी है, जैसे,

बैठे बहुरि पहिरि पग बेरी,
ज्यौं कोउ गाडि धरै धन ढेरी।

कृष्ण को गोकुल पहुँचा कर वसुदेवजी मथुरा लौट आते हैं और पूर्ववत् निगड धारण कर लेते हैं। किन्तु उस समय

वसुदेवजी ऐसे धैर्य और संतोष से बैठे हैं जैसे कोई धन-राशि को गाड़ कर संतोष और धैर्य का अनुभव करता है। "ज्यौं कोउ गाहि धरै धन ढेरी" से 'वैठे वहुरि पहिरि पग वेरी' भाव में स्पष्टता और सरसता आगई है।

(१४) कहीं कहीं दो घटना सूत्रों में सम्बन्ध या संयोग दिखाने के अभिप्राय से कुछ संयोजनाएँ की हैं। भागवत में शकट-भंजन और तृणावर्त के बीच में पूर्वापर की सूचना देने वाली या उनको जोड़ने वाली कोई ऐसी पंक्ति नहीं जो शृंखला का काम करे। नन्ददास ने यह काम बड़े कौशल से किया है। शकट-भंजन की घटना हो चुकी, अनेक मनौतियाँ मनाई जाचुकीं किन्तु 'तृणावर्त' से इसकी योजना करनी थी, इसलिए ये पंक्तियाँ प्रयुक्त की गईं

"तब तैं नन्द महर की ललना,
पूतहि परयौ पत्याइ न पलना।
इक दिन ललन लिए दुलरावति,
बाल के बाल चरित कछु गावति॥"

पालने में शकट भंजन की घटना घट चुकी थी, इसलिए माता यशोदा कृष्ण को पालने में नहीं सुलातीं। तो फिर ? उन्हें गोद में रखती हैं। इसी प्रकार एक दिन कृष्ण को गोद में लिए वे दुलार कर रहीं थीं। इस के समावेश से 'कृष्ण को गोद मे क्यों रक्खा जाता था' इसकी सूचना तो मिल ही जाती

है साथ ही साथ पालने की घटना' के साथ इनको इस प्रकार संयुक्त किया गया है कि तृणावर्त की घटना के लिए मार्ग तैयार हो जाता है और एक संक्षिप्त भूमिका सी बन जाती है।

इस प्रकार

तृणावर्त की घटना भी घट चुकी। भागवत में इसके पश्चात् कृष्ण यशोदा को अपने मुख में विराट रूप दिखाते हैं। यहाँ भी कवि दो अभावों का अनुभव करता है, एक तो घटनाओं का आगा-पीछा, दूसरा विराट् रूप के दर्शन का कारण। इसी हेतु इन दो पंक्तियों की संयोजना की गई, जो संयोजक का कार्य करती हुई दूसरी घटना के लिए कारण उपस्थित कर रही हैं। देखिए,

तृनावर्त आवन मैं बाल,
भयौ जु अतिभारी तिहिं काल।
जननी के जिय संका रहै,
हरि वह भार जनायौ चहै।

(५) काव्यकला एवं बहुज्ञता प्रेरित संयोजनाएँ

कवि की बहुज्ञता में तो कोई सन्देह है ही नहीं। इसका प्रमाण इनके ग्रन्थ हैं। 'रसमंजरी' कवि के नायक नायिका-भेद की परिचायक है। 'मानमंजरी' और 'अनेकार्थ मंजरी' कवि की शब्द-कोष-सिद्धि (अमरकोशसिद्धि) का साक्ष्य देती है। दशम स्कंध में यह ज्ञान भी कभी-कभी उद्वेलित हो ही जाता है जिसका प्रत्यक्षीकरण कुछ संयोजनाओं के रूप में होता है।

भागवत में 'वस्त्रहरण' लीला में जमुनाजल में प्रविष्ट नग्न गोपियाँ नाना प्रकार से कृष्ण की खुशामद करती हैं कि वस्त्र दीजिये। मुग्धा, प्रौढ़ा का कोई वर्गीकरण दृष्टिगत नहीं होता किन्तु नन्ददास ने इस प्रकार किया है-

तिन मधि मुग्ध वैस की वाला,
ऍड सौं कहति भई तिहि काला।

× × × ×

पुनि तिन मैं जे प्रौढ़ा आहि,
ते वोली हँसि हरि तन चाहि।

(v) सम सामयिक प्रभाव से प्रेरित संयोजनाएँ-

प्राय: व्रज में (कहीं-कहीं अन्यत्र भी देखा गया है) यह प्रथा है कि जब शिशु किसी काम को पहली बार करता है या उसके लिए कहीं बाहर जाता है तो उत्सव मनाया जाता है। किसी बालक के किसी की बरात में पहली बार जाने पर उत्सव मनाया जाता है, गाना-बजाना होता है और सम्मिलित जनों (स्त्रियों) को बताशे या मिठाई बाँटी जाती है। विद्यारंभ के समय भी इसी प्रकार का उत्सव होता है। नन्ददास ने गोपाल कृष्ण के प्रथम बार गोचारण के लिए जाने के अवसर पर इसी प्रकार के उत्सव का उल्लेख किया है, अतएव यह प्रथा यदि प्राचीन नहीं तो कम से कम नन्ददास के समय अवश्य प्रचलित होगी। भागवत में 'करवट बदलन' का उल्लेख तो है किन्तु

उपर्युक्त उत्सव का कोई जिक्र नहीं। संभव हो सकता है कि भागवत-निर्माण काल में इस प्रकार की प्रथाएँ न हों, यद्यपि भारतीय जीवन के साथ इन प्रथाओं का ऐसा घनिष्ट-संबन्ध है कि इनके उस समय प्रचलित होने के विषय में असंभावना का कोई कारण भी नहीं दीख पड़ता। नन्ददास पर यह प्रभाव इन पंक्तियों में प्रकट होता है

गोपालन संमत जब जाने,
द्विज वर बोलि नन्द जू आने।
भल मुहूर्त लै दान दिवाइ,
पठये कान्ह चरावन गाइ॥
जसु लगी मंगल गीत गवावन,
नन्द चले बन लौं अवरावन।

५ अवहेलनात्मक परित्याग।

कहीं कहीं नन्ददास ने लम्बी दार्शनिक उक्तियों को एवं अनेक वस्तुओं के सूक्ष्मविवरण को या तो बिल्कुल छोड़ दिया है या अंशतः छोड़ दिया है। संभवतः नन्द कवि ने ऐसा तीन कारणों से किया है या तो कहीं १. लीला वर्णन के सुरस में इनके कारण नीरसता आती है, या २. कथा का प्रवाह रुकता है, या ३. भक्ति अप्रधान बनती है। लेखक ने तुलनात्मक अध्ययन के समय कुछ ऐसे ही स्थल, जो दशमस्कंध में परित्यक्त या संक्षिप्त हैं, नोट किए हैं; वे नीचे दिये जाते हैं.

(i) नन्ददासजी ने ब्रह्मादिक द्वारा गर्भस्तुति में से सनातनवृक्ष के रूपक को छोड़ दिया है; शेष स्तुति से संक्षिप्त भाव-मात्र लिया है।

(ii) तीसरे अध्याय में नंददास ने 'स्तुति' को संक्षिप्त कर दिया है और सांख्य-दर्शन की लम्बी-चौड़ी विवेचना को छोड़ दिया है। भागवत से कुछ भाव लेकर और कुछ अपने मिला कर कवि ने भाव-प्रदर्शन में नवीनता भरदी है।

(iii) तीसरे अध्याय में नंददास ने फिर भगवान् के प्रवचन को संक्षिप्त कर दिया है एवं उनके देवकी के गर्भ से प्रादुर्भूत होने के विवरण को नितान्त छोड़ दिया है।

(iv) चौथे अध्याय में कंस की दार्शनिक वार्ता सूक्ष्म करदी गई है और मंत्रियों की अनुवार्ता से राजनीति को निकाल दिया गया है।

(v) पूतना की घटना से उत्पन्न हर्ष और विस्मय के संश्लिष्ट भाव को प्रकाशित करती हुई यशोदा गोपियों के साथ विधाता को अनेक धन्यवाद देती हैं। यह विवरण भागवतX VI में श्लोक २२ से २६ तक दिया गया है, किन्तु नंददास ने उसे छोड़ दिया है।

(vi) पूतना की चिता से निकली हुई गंध से वायु के सुगन्धित होने के विस्तार को नंददास ने निकाल दिया है।

(vii) भागवत X–vii में, श्लोक ११ से १७ तक, स्वस्ति मंत्रों द्वारा कृष्ण को अशुभ-ग्रह-प्रभाव से बचाने वाले ब्राह्मणों की महत्ता का वर्णन है; नंददास ने इसका परित्याग कर दिया है।

(viii) आठवें अध्याय में गर्ग द्वारा कृष्ण की प्रशंसा को भी यहाँ छोड़ दिया गया है।

(ix) शुकदेव द्वारा परीक्षित को किए गए कृष्ण की प्रकृति के निरूपण का भी यहाँ कोई उल्लेख नहीं है।

(x) चौदहवें अध्याय के अन्त में शुकदेवजी का वक्तव्य नहीं दिया गया और ब्रह्मा के वक्तव्य को भी कवि ने अपनी भावना के अनुकूल काट-छाँट दिया है।

(xi) १६ वें अध्याय में कालिय और उसकी पत्नियों की वार्ता को संक्षिप्त कर दिया है।

६ अनुवाद में क्रम-भेद

इसे दिखाने की आवश्यकता नहीं। यह क्रम भेद दशम स्कंध में अनेक स्थलों पर मिलता है।

७ -भावुकतावश अतिशयोक्ति का सन्निवेश (Sentimental exaggeration)

कभी कभी कवि भावना में इतने बह जाता है कि कुछ बातों को अति बढ़ा कर कह देता है। देखिए,

१. सुन्दर बिजन सुन्दर छीके,
कनक लकुटियन लटकत नीके॥

स्वर्ण की लकुटियाँ लेकर गोचारण के लिए जाना यह कुछ उपहासास्पद सा प्रतीत होता है। यद्यपि भगवान् के सखाओं के लिए यह कुछ असंभव नहीं, किन्तु भगवत में इन 'स्वर्ण लकुटियों का कोई उल्लेख नहीं है; निस्सन्देह इनका समावेश अतिशयोक्तिमात्र है जिसका कारण नंददास की भावुकता को ही बताया जासकता है।

और देखिये,

11. जित देखियै तित सुख की रैनीं,
कनक करारे 'रतन-नसैनी ॥

यहाँ 'कनक करारे' और 'रतननसैनी' का समावेश भी भावुकतावश ही हुआ है।

इनके अतिरिक्त यह और ध्यान देने की बात है कि कवि ने लीला-और-धाम के वर्णनों को कहीं भी संक्षिप्त नहीं किया। वृन्दावन का वर्णन घटा कहीं नहीं, हाँ अनेक स्थलों पर बढ़ अवश्य गया है।

ध्रुवस्वामिनी

'प्रसाद' के समय तक 'अछूत' और 'पुनर्विवाह की समस्या ने सामाजिक विचारों में काफी हलचल पैदा करदी थी। महात्मा गांधी का 'अछूतोद्धार' और ऋषि दयानन्द की वर्ण विषयक नूतन कल्पना का रूप प्रायः एक ही सा चल रहा था। आर्य समाज की प्रयोगशाला में विधवारोग के निदान और उपचार की परीक्षा भली प्रकार हो चुकी थी, उससे पुनर्विवाह की प्रगति को समाज में सन्तोषजनक प्रोत्साहन मिलने लगा था। इधर कुछ इतर धर्मों के स्पर्श से हिन्दुत्व में भी मोक्ष (divorce) के कीटाणु प्रवेश करने लगे थे, जिनसे शिक्षित महिला-समाज को विशेष आकर्षण मिलरहा था और स्वतंत्र विचारों की प्रेरणा से मोक्ष के अनेक उदाहरण समाज के सामने आ भी रहे थे। सामाज के ऐसे वातावरण का चित्रण मनस्विता की तूलिका से रह जाए, यह आशा व्यर्थ है। प्रसाद को बहुत कुछ उनके अध्ययन ने प्रदान किया है, इसमें संशय की कोई बात नहीं है, किन्तु उन्होंने सामाज से कुछ नहीं लिया यह प्रसाद जैसे मनस्वी साहित्यकार के सम्बन्धमें असंगत कल्पना है। 'शूद्र गोप से लेकर ब्राह्मण तक की समता' का प्रतिपादन, जनमेजय का नागयज्ञ' अपने प्रथम पृष्ठ पर ही सरमा के वाक्यों में करता मिल रहा है। ध्रुवस्वामिनी की रचना मानो समाज के विचारों में मोक्ष और पुनर्विवाह की प्रतिष्ठा के लिए ही हुई है।

प्रेरणा } ध्रुवस्वामिनी के लिखने की प्रेरणा प्रसाद को ऐतिहासिक साहित्य (देवीचन्द्रगुप्त) और अपने युग, दोनों से मिली है। उन्होंने ध्रुवस्वामिनी में युग की 'आवश्यकता' को इतिहास और धर्मशास्त्र की कसौटी पर कसकर दिखलाया है कि "हमारे आचार और धर्मशास्त्रों की व्यावहारिकता की परम्परा विच्छिन्न सी है। आज जितने सुधार या समाजशास्त्र के परीक्षात्मक प्रयोग देखे या सुने जाते हैं, उन्हें अचिन्तित और नवीन समझ कर हम बहुत शीघ्र उन्हें अभारतीय कह देते हैं, किन्तु प्राचीन आर्यावर्त ने समाज की चिरकालीन परम्परा में प्रायः प्रत्येक विधान का परीक्षात्मक प्रयोग किया है। तात्कालिक कल्याणकारी परिवर्तन भी हुए हैं। इसी लिये डेढ़ हजार वर्ष पहले यह होना अस्वाभाविक नहीं। क्या होना चाहिए और कैसा होगा ? यह तो व्यवस्थापक विचार करें, किन्तु इतिहास के आधार पर जो कुछ हो चुका है या जिस घटना के घटित होने की संभावना है उसी को लेकर इस नाटक की कथावस्तु का विकास किया गया है।

विशाखदत्त के 'देवी चन्द्रगुप्त' में ध्रुवदेवी नाम मिलता है, किन्तु राजशेखर के मुक्तक में ध्रुवस्वामिनी नाम आया है। प्रसाद ने स्त्रीजनोचित सुन्दर, आदर-सूचक और सार्थक समझ

कर उसी का व्यवहार किया है। नाटिका का नामकरण नायिका के नाम पर हुआ है।

नाटिका का प्रथम अङ्क गुप्त-शिविर में खुलता है, जिसे शक-सेना दोनों ओर से घेर लेती है। क्लीव और क्षीव रामगुप्त अपने अमात्य शिखरस्वामी के परामर्श से शकराज के संधि-प्रस्ताव को स्वीकार करके उसे अपनी महादेवी ध्रुवस्वामिनी देने के लिए तैयार हो जाता है, किन्तु रामगुप्त की स्वीकृति से ध्रुवस्वामिनी को अति विषाद होता है। इस बात को सुनकर चन्द्रगुप्त, जो रामगुप्त का छोटा भाई, किन्तु उससे अधिक योग्य, वीर और स्वाभिमानी है, प्राण-पण से महादेवी की रक्षा का निश्चय करके स्त्रीवेश में उसी के साथ शकराज के पास जाता है। शक-दुर्ग मे चन्द्रगुप्त के साथ युद्ध करता हुआ शकराज मारा जाता है। समाचार पाकर विजय का उत्साह दिखाने के लिए रामगुप्त भी वहाँ शिखरस्वामी के साथ आ उपस्थित होता है और चन्द्रगुप्त तथा सामन्त-कुमारों को अपना विद्रोही पाकर सैनिकों द्वारा बन्दी बना लेता है। जब रामगुप्त का अत्याचार ध्रुवस्वामिनी को भी बन्दी बनाने की चेष्टा करता है, तो चन्द्रगुप्त की वीरता सतर्क हो उठती है। वह आवेश में आकर लौह-शृङ्खला तोड़ डालता है। कलह और भय को बढ़ता देखकर शिखरस्वामी परिषद् के निर्णय के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। परिषद् के सब लोग अनार्य, पतित और क्लीव रामगुप्त को गुप्त साम्राज्य के राज्य-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी

घोषित कर देते हैं। साथ ही पुरोहित, धर्मशास्त्र की दृष्टि से क्लीव रामगुप्त से, जो अपनी स्त्री को दूसरे की अङ्कगामिनी बनने के लिए भेजने में कुछ संकोच नहीं करता, ध्रुवस्वामिनी को मोक्ष प्राप्त करने की आज्ञा देता है। रामगुप्त को, जो धोखे से चन्द्रगुप्त को मारने का उपक्रम करता है, एक सामन्तकुमार मार डालता है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त को राज्य-सिंहासन और उसकी वाग्दत्ता-पत्नी ध्रुवस्वामिनी को महादेवी का पद मिल जाता है। बस, इतना सा ही कथानक का प्रधान सूत्र है।

नाटिका के वातावरण का केन्द्र ध्रुवस्वामिनी है जो रामगुप्त की विवाहिता और चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता पत्नी है, जिसका विवाह-सम्बन्ध शकराज से स्थिर हो चुका था। समुद्रगुप्त की विजययात्रा में ध्रुवस्वामिनी के पिता ने उपहार में उसे गुप्तकुल में भेज दिया, इसलिये वह शकराज को न मिल सकी और शकराज का हृदय इससे दग्ध बना रहा। पिता द्वारा युवराज पद की घोषणा चन्द्रगुप्त के लिए हुई थी और ध्रुवस्वामिनी कदाचित् युवराज के लिए ही प्रदान की गई थी, परन्तु शिखर-स्वामी के संकेत से रामगुप्त ने सिंहासन के अपहरण के साथ साथ चन्द्रगुप्त से उसकी वाग्दत्ता पत्नी को भी छीन लिया। इसी बीज से रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के मध्य कलह अंकुरित होता रहा। रामगुप्त के अवगुणों के कारण ध्रुवस्वामिनी उससे घृणा करने लगी, किन्तु चन्द्रगुप्त के गुणों ने उसके हृदय को जीत लिया। रामगुप्त का हृदय चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी

दोनों के प्रति संदेहशील है। इसके अतिरिक्त रामगुप्त अपनी बहिन मन्दाकिनी के स्नेह का भी अभाजन बना हुआ है, और न प्रजा-परिषद् के लोग ही उससे सन्तुष्ट दीख पड़ते हैं। उधर गुप्त-शिविर घिर जाता है; परन्तु मधुप रामगुप्त अन्यचेता बना हुआ है। उसका अमात्य शिखर स्वामी महास्वार्थी और कुचक्री है। उसकी मन्त्रणा उसे पतन की ओर धकेल रही है। राजा के रखने न रखने के सम्बन्ध में लोक-परिषद् का निर्णय अन्तिम दीख पड़ता है। यह है नाटिका के पारिवारिक और राजनीतिक वातावरण की रूप-रेखा।

इसके अतिरिक्त नाटिका में सामाजिक वातावरण का सूक्ष्म अंश भी प्रस्तुत है, जिसकी आधार-भूमि नारी-अधिकार की समस्या है। यहाँ नारी न केवल अपनी स्थिति और विवशता पर आँसू बहाती है, अपितु अपने सामाजिक अधिकारों के प्रति सचेत भी दीख पड़ती है। वह स्थिति विशेष में पति से मोक्ष प्राप्त कर सकती है और पुनर्लग्न की घोषणा का अधिकार भी रखती है।

'ध्रुवस्वामिनी' तीन अङ्कों की एक ऐतिहासिक नाटिका है जिसका उद्देश्य सामाजिक है। पात्रसंख्या के ऊपर इसमें कम ध्यान रक्खा गया है। संभवतः कुछ कम पात्रों से भी अच्छा अभिनय हो सकता था। यहाँ ध्रुवस्वामिनी, खड्गधारिणी, दासी, प्रतिहारी, रामगुप्त, शिखरस्वामी, मन्दाकिनी, परिचारिका, कुबड़ा, बौना, हिजड़ा, चन्द्रगुप्त, कोमा, शकराज, खिंगल,

मिहिरदेव, सैनिक (एक), पुरोहित और गुरुकुल के एक वृद्ध को पात्रत्व व्यक्तिगत रूप से तथा सामन्तकुमारों, सैनिकों, परिषद् के लोगों और नर्तकियों को सामूहिक रूप से प्राप्त हुआ है। मुख्य घटना ध्रुवस्वामिनी, रामगुप्त, शिखरस्वामी, चन्द्रगुप्त, शकराज और सैनिकों के इधर-उधर घूमती दीख पड़ती है परन्तु राजकीय वातावरण की उपस्थिति से नाटिका की अतिपात्रता अधिक अखरती नहीं है। कुबड़े, बौने और हिजड़े के प्रसङ्ग से जिसकी योजना विनोद के लिये की गई है, हास्यरस की प्रौढ़ सृष्टि नहीं हो पाती। मूल कथा से इस प्रसंग की अपृथक्प्रतीति कम ही होती है, परन्तु प्रासङ्गिक का अन्त आधिकारिक से बड़ी चतुरता से जोड़ा गया है, इससे प्रारम्भ का अभाव उतना खटकता नहीं है।

आधुनिक नाटक की अन्य आवश्यकता है गायन का समावेश, जिसे नाटक में यत्र-तत्र प्रस्तुत किया जाता है, केवल वे ही स्थल गायन के लिये निर्दिष्ट होते हैं, जहाँ व्यक्ति या वस्तु की आत्मपरक भावना के लिये पर्याप्त अवकाश होता है। ध्रुव-स्वामिनी में गायन का कौशलपूर्ण सन्निवेश है। इसमें चार गाने मिलते हैं जिनमें से दो को मन्दाकिनी, एक को कोमा और चौथे को शकराज के विजयोत्सव पर नर्तकियां गाती हैं। कोमा और नर्तकियों के गाने रति-पोषक तथा मन्दाकिनी के उत्साह समाकुल हैं। नर्तकियों के गीत में रतिभाव उद्दीपनप्रचुर एवं सम्भोग-संकेतित है।

कोमा के गीत में रतिभाव अतृप्त वासना की स्थिति में है। यौवन चञ्चल है; कोमा को भय है कि कहीं वह हाथ से न निकल जाय। अतः वह यौवन की मदिरा को छक कर पीना चाहती है

यौवन तेरी चञ्चल छाया।

इसमें बैठ घूँट भर पी लूँ जो रस तू है लाया।

❀ ❀ ❀

किन्तु मन्दाकिनी के गीतों में उत्साह के आन्दोलन में वीरता की दृढ़ स्थिति है।

❀ ❀ ❀

क्रन्दन कम्पन न पुकार बने,
निज साहस पर निर्भरता हो।

❀ ❀ ❀

विश्राम शान्ति को शाप दिये,
ऊपर ऊँचे सब झेल चले॥

अन्यत्र,

यह कष्ट अरे आँसू सहजा।
बन कर विनम्र अभिमान मुझे
मेरे अस्तित्व बता, रह जा॥

इन गीतों को, भाव-तीव्रता, सङ्गीत-प्रधानता और प्रभाव-प्रेषणीयता की समवेत स्थिति से चर्वणाजन्य आनन्द की सहज अवाप्ति के आधार पर, उत्तम कोटि में परिगणित होने का अधिकार है।

नाटक में भाषा, रस और चरित्र-चित्रण की गवेषणा के लिए कथोपकथन बड़े महत्व की वस्तु हैं। प्रस्तुत नाटिका के गुणों को कथोपकथन का पूर्ण सहयोग प्राप्त है। घटनावली विशाल न होते हुये भी कथोपकथन की मार्मिकता से व्यापार-शिथिलता का परिहार हुआ दीख पड़ता है। कुछ के अतिरिक्त कथोपकथन अधिक बड़े नहीं हैं। जो बडे हैं उनमें भी पात्रों के मानसिक स्तर का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है। जिनके कथोपकथन कुछ स्थलों पर बड़े दीख रहे हैं, वे पात्र ध्रुवस्वामिनी, मन्दाकिनी और कोमा हैं। बडे कथोपकथन का दोष 'ठहर कर,' 'सोच कर,' 'सीढ़ी पर बैठ कर' आदि विरामों द्वारा विशीर्ण किया गया है। विरामों के अन्तर्निवेश से कथोपकथन की दीर्घता श्रुति-प्रवाह का अवरोध नहीं कर पाती।

भाषा विशुद्ध खड़ी बोली है जिसका व्यवहार पात्रों की योग्यता के अनुकूल हुआ है। पात्रों की मानसिक और व्यावहारिक क्षमता के अनुरूप ही भाव-प्रवणता की प्रतीति होती है। अभिहित को लक्षक एवं व्यञ्जक का उपयुक्त सहयोग मिलने

से भाषा में सुन्दर मिताक्षरता एवं भाव-रमणीयता आ गई है। एक दो नमूने देखिये:

"अपने तेज की अग्नि में जो सब कुछ भस्म कर सकता हो, बस दृढ़ता का, आकाश के नक्षत्र कुछ बिना-बिगाड़ नहीं सकते।"

तथा च,

"प्रेम! जब सामने से आते हुये तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाश-पुञ्ज उड़ेल देता है, तब सामने की सब वस्तुएँ और भी स्पष्ट हो जाती हैं।"

भाषा की प्रांजलता और शब्दों की ऊर्जस्विता में निकट सम्बन्ध दीख पड़ता है। प्रसाद गुण की प्रधानता को माधुर्य की प्रचुरता का सहयोग मिल रहा है। कहीं कहीं ओज का भी सुन्दर विनिवेश है।

इस नाटिका का प्रधान रस शृङ्गार है, क्योंकि इसकी घटनावली की संसिद्धि नायक-नायिका के उरों में स्थित रति-भाव से होती है। हास, उत्साह और क्रोध रति के सहायक का काम कर रहे हैं। उत्साह और क्रोध रति के विरोधी भाव होते हुये भी आलम्बन की भिन्नता के कारण विरोध-स्थिति में नहीं हैं। नायक और नायिका (चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी) दोनों के हृदयों में रति-भाव प्रश्न और उत्तर के रूप में नहीं है दोनों।

स्थलों में उसका रूप प्रश्न का ही होने से आश्रय और आलम्बन का निर्णय दुःसाध्य प्रतीत होता है:

"कुमार को ....

इतने से ही सन्तोष होगा कि उन्हें कोई विश्वास-पूर्वक स्मरण कर लेता है" खड्गधारिणी का यह वाक्य चन्द्रगुप्त के भेजे हुये संवाद का आशय प्रकट कर देता है और "हाँ मैंने उन्हें देखा था, वह निरभ्र प्राची का बाल-अरुण।" "कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देख कर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है" ध्रुवस्वामिनी के इन वाक्यों में समान रूप से रति-भावना छिपी हुई है।

प्रथम अङ्क में दर्शन से ही अनुरक्त नायक और नायिका की, समागम से पहली दशा की प्रतीति हो रही है। अनुराग के उत्कट होते हुये भी इष्ट समागम नहीं हो रहा है, अतः रस पूर्व राग (विप्रलम्भ शृङ्गार) की अवस्था में है। इसकी प्रतीति नायक-नायिका की परस्पर अभिलाषा, चिन्ता, और स्मृति से होती है। नाटिका के दूसरे अंक के मध्य में ध्रुवस्वामिनी द्वारा चन्द्रगुप्त के आलिंगन की अवस्था में संभोग शृंगार की स्थिति बन जाती है। इसके उपरान्त हम नायिका को नायक से वियुक्त नहीं पाते। रामगुप्त का वध समागम के मार्ग को निर्विघ्न कर देता है।

ध्रुवस्वामिनी इस नाटिका की नायिका है, जिसे हम प्रणयिनी के रूप में देखते हैं। चन्द्रगुप्त उसका प्रिय है और

उससे समागम उसकी जिज्ञासा एवं वासना है। रामगुप्त की वह विवाहिता पत्नी है, परन्तु उसके आचरण से वह खिन्न है। रामगुप्त से उसकी अतृप्ति का अनुमान उसके इन शब्दों से कर सकते हैं: "मैं तो अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती। मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह, यह भी मैं आज तक न जान सकी। मैंने तो कभी उनका मधुर संभाषण सुना ही नहीं। विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहाँ ?"

वह अपना अपमान नहीं सह सकती क्योंकि उसे अपने स्वाभिमान का अधिक ध्यान है। "यह तो मैं जानती हूँ कि इस राजकुल के अन्तःपुर में मेरे लिए न जाने कब से नीरव अपमान संचित रहा जो मुझे आते ही मिला, किन्तु क्या तुम जैसी दासियों से भी वह मिलेगा !" यह उक्ति उसी स्वाभिमान की भावना का परिचय देती है।

परिस्थियों ने उसे निर्भीक और स्पष्टभाषिणी बना दिया है। अपने स्त्री जनोचित अधिकार के प्रति सतर्क होकर रामगुप्त से वहक ह उठती है: "कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशुसम्पत्ति समझ कर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी

नहीं सकते हो।" मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष उसके लिए प्राणों का पण लगा सके !

असहायता की अवस्था मे रोष उसके स्वाभिमान का सहज भूषण होकर अवतरित होता है; 'निर्लज्ज मद्यप !! क्लीव !!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं, मै अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मै उपहार में देने की वस्तु, शीतल मणि नहीं हूँ। मुझ मे रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मै ही करूँगी'।

वह अपने प्रिय के लिये स्वार्थ का बलिदान कर सकती है। हमें उसकी इस क्षमता का परिचय चन्द्रगुप्त के प्रति शक दुर्ग मे मिलता है जब वह नारीवेशधारी चन्द्रगुप्त से कहती है, "चन्द्रे ! तुमको क्या हो गया है ? यहाँ आने पर तुम्हारी इच्छा रानी बनने की हो गई है या मुझे शकराज से बचा लेने के लिये यह तुम्हारी स्वामिभक्ति है ?"

मोक्ष (Divorce) और पुनर्विवाह के सम्बन्ध में ध्रुवस्वामिनी की स्थिति को हम दो बड़े सामाजिक सिद्धान्तों के रूप में देखते हैं। ध्रुवस्वामिनी एक बड़ी धार्मिक समस्या का हल प्रस्तुत करती है, जिस पर वर्तमान हिन्दू समाज का हित निर्भर है।

रामगुप्त क्लीव, निर्लज्ज और मद्यप है। वह दूसरे की अङ्कशायिनी बनने के लिये अपनी स्त्री तक का भी समर्पण कर

सकता है। अपनी रक्षा के लिये गिड़गिड़ाती हुई ध्रुवस्वामिनी को वह निर्लज्ज हो कर कह देता है "नहीं! तुम, मेरी रानी? नहीं, नहीं। जाओ तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। उसमें तुम्हें क्यों आपत्ति है?

वह बड़ा ही का-पुरुष है। वह अपने प्राणों की लालसा से सहज स्वत्वों का विसर्जन भी कर सकता है। इसका प्रमाण ध्रुवस्वामिनी के प्रति उसके इस उत्तर में है; "तुम सुन्दर हो, ओह, इतनी सुन्दर, परन्तु सोने की छुरी पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय में डुबा नहीं सकता। तुम्हारी सुन्दरता तुम्हारा नारीत्व अमूल्य हो सकता है, फिरभी अपने लिये मैं स्वयं कितना आवश्यक हूँ कदाचित तुम यह नही जानती हो!"

जब शिखरस्वामी उसे सूचना देता है कि "शिविर दोनों ओर से घिर गया है। उसकी (शत्रु की) बातें मानिये, या अपनी कुलमर्यादा की रक्षा कीजिए, दूसरा कोई उपाय नहीं" तो कायर रामगुप्त के प्राण सूख जाते हैं और वह चौंककर उससे पूछने लगता है "क्या प्राण देने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं? ऊँ-हूँ, तब तो महादेवी से पूछिये।"

मद्य उसका सर्वस्व है। उससे उसे विवाह के अवसर पर भी अवकाश नहीं मिलता, इसे वह अपने शब्दों में ही स्वीकार करता है-"परन्तु रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी। मैं

तो उस दिन द्राक्षासव में डुबकी लगा रहा था । पुरोहितों ने न जाने क्या क्या पढ़ा दिया होगा।"

मद्य ने उसकी बुद्धि को क्षीण कर दिया है । वह अनेक बातों को सोच-समझ भी नहीं सकता। प्रतिहारी से शिविर के दोनों ओर से अवरोध की सूचना पाकर क्षीवता की लहर में चक उठता है "दोनों ओर से घिरा रहने में शिविर और भी सुरक्षित है।"

रामगुप्त की स्थिति डॉवाडोल है। वह भीतर और बाहर दोनों पक्षों के प्रति सशंक है। उसे ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त दोनों पर सन्देह है। उसे भय है कि जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी वह स्त्री न जाने कब चोट कर बैठे ?

शिखरस्वामी ने उसे अपने स्वार्थ का पुतला बना रक्खा है। जिधर वह संकेत करता है, रामगुप्त नाचता है, क्योंकि शिखर का उस पर अमित उपकार है । उसी का पक्ष प्राप्त करके वह चन्द्रगुप्त के स्थान पर राजा बना है।

मदिरा की स्वाभाविक सहचरी विलासिता का भी उस पर अनुराग है। ध्रुवस्वामिनी के शब्दों में 'वह विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त रहता है।'

अमात्य के सिवा किसी की सद्भावना उसके प्रति नहीं है । सामन्त कुमार उसे हिंसक, पाखण्डी, क्षीव और क्लीव शब्दों से

सम्बोधित करता है और पुरोहित उसे गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मो से 'राजा-किल्विपी' एवं क्लीव घोषित करता है और परिषद् के सब लोग उसके राज्य सिंहासन पर बैठने के अधिकार का विरोध करते हैं।

धोखा, जिसका वह अपने लघु बन्धु की हत्या के लिए प्रयोग करना चाहता है, स्वयं उसकी मृत्यु का कारण बनता है।

शक सेना द्वारा गुप्त-शिविर का अवरोध, शकराज के सन्धि-प्रस्ताव को स्वीकार करके रामगुप्त द्वारा शकराज को ध्रुवस्वामिनी का समर्पण और युक्ति से चन्द्रगुप्त द्वारा शकराज का वध एव ध्रुवस्वामिनी की रक्षा और प्रणय की पूर्ति इतनी मात्र इस नाटिका की घटना है जिसे भावों के आधार पर तीन अंकों में फैलाया गया है भाव प्रधान होने से इसमें व्यापार और चरित्र का विकास नहीं होसका है।

साधना

'लेखक, तुम पुजारी बनने चले हो ? वह भी सच्चे ! क्या सत्य पूजा इतनी सरल है ? याद रखिये वह भावना का आवेग नहीं और न गति की यंत्रता, उसके लिए चाहिए मति और गति की एकनिष्ठता अभ्यास की स्थिरता और अनुभव की शक्ति। मंदिरप्रवेश भी चाहते हो तो क्या लेकर ? जानते हो किस स्थान पर बैठना है ? यदि खड़े होने को स्थान न मिला तो ? क्या तुमने दीवारों को ही देवालय समझ लिया है ? यदि दंभ से नहीं ममत्व से प्रेरित हो, तो वस्तु-विन्यास और रचना-कला का अभिज्ञान प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है। आत्म-निर्भरता के आधार पर तत्परता का भवन बनता है, जिसकी सप्तम भूमिका के भीतर देव प्रतिष्ठा होती है। उस देवता का दर्शन तक दुर्लभ है, तुम तो पुजारी होना चाहते हो! देखलो, बहक तो नहीं रहे हो ? योग्यता प्रमाणपत्र देने बैठती है, उस पर विश्वास की 'सही' होती है। उसे कहते हैं प्रवेशपत्र। क्या वह है तुम्हारे पास ? धक्के खाने से पहिले सोच लो। पुकार का भरोसा रखते हो तो उसे सुनेगा कौन ? तुम जैसे कितने ही द्वारपालों के हाथों अपना सम्मान खो बैठते हैं। तुम्हारा प्रवेश मुझे तो असंभव ही प्रतीत होता है। यदि वह तुम्हें संभव भी दीखता हो तो वंचकों से सुलझना सरल नहीं। वे तुम्हारा सर्वस्व छीन लेंगे, लुट जाने पर अपनी भूल पर पछताओगे, तब तुम्हें मेरी बात का स्मरण होगा;

किन्तु इससे यह न समझ लेना कि मैं तुम्हारे साहस को तोड़ना चाहता हूँ। मेरी वाणी केवल चेतावनी है। पात्रता के बल पर चलने वाली इच्छा फलवती होती हैं। पद योग्यता का फल है। फल चाहते हो, पद का लोभ है, तो पात्रता प्राप्त करो, योग्य बनो। इस पर विचार करलो; कुछ सोच लो; फिर जो उचित समझो, करना। 'कूदने से पहले सोच लो' यह अनुभव की शिक्षा है। विवेक से काम लेने पर तुम्हें मेरा सहयोग मिलता रहेगा।

यह सुनते ही इधर-उधर देखा; केवल विस्मय मिला। वहाँ था कौन जो दीखता? आधी रात, कौन आता? गृहिणी भी अपनी माँ के घर हैं, इन शिक्षामंत्रो का तोल-तोल कर उच्चारण किसने किया? प्रिया के साथ विनोद से कूद-फाँद करने वाला चूहा क्या मुझे उपदेश देता? क्या वह कायर कभी मानवी भाषा बोल सकता है? नहीं, यह उसका काम नहीं था। लेखनी? हाँ, वह बोलती तो है, परन्तु चलने पर। भाषा उसकी भी अमानवी है। मैं कैसे मानलूँ कि आज वह इस मानवी भाषा में बोल उठी? 'किसने कहा' यह मेरे लिए पहेली थी।

अपूर्ण साधन! भय पहले से ही था। प्रच्छन्न चेतावनी से मेरी भीरुता और भी समृद्ध होगई। पीछे पुस्तकों का ढेर था, नीचे कागज बिछे ही हुए थे। वहीं लेट गया। कलम की दुम होंठ पर रख कर सोचता रहा। धीरे-धीरे निद्रा समीप आने

लगी। कदाचित् लेखनी ने उसे देख लिया। मेरा निद्रा की गोद में जाना था कि वह हाथ से छूट कर भूमि पर जा पड़ी। मैं परवश था। उसके मादक प्रभाव में था। स्वप्नों की रानी मुझे भी अपने देश में लेपहुँची। कैसे ? मैं नहीं जानता।

मैं एक उपवन में स्फटिक शिला पर बैठा था। वासन्ती उषा का चमत्कार लोचन पथ में अनुराग-माधुरी के पायंदाज बिछा रहा था। ओस के संकेत-गृहों में हरियाली और अनुराग मुस्करा रहे थे। समीरण के कोमल स्पर्श से कलियाँ जगाने लगीं, लहरें थिरकने लगीं और कलकंठ मुखरित हो उठा। मेरे इधर-उधर सौरभ की झोली खुल गई। अलि-गुंजन से मेरा कवित्व सचेत होगया और पूर्व दिशा की रिगति से मेरे हृदय का स्पन्दन लेकर अधिक स्फूर्जित हो उठा। खगरव-परिचय के साथ हृदय की सिहरन चल ही रही थी कि शंख-झालर बजने लगे। अनर्गल जन-समूह मन्दिर की ओर चल दिया। विहग भूमि से उड़-उड़ कर विटप-शिखरों पर जा बैठे। संत्रस्त केकी भीरु केका से आकाश का उर भरते हुए लता-निकुंजों में जा घुसे। चित्त की एकाग्रता बिखर गई। कवित्व अन्तर्हित होगया और मैं भी भीड़ के साथ चल दिया।

फल, फूल, पत्र, जल या नवान्न सब के हाथों में कुछ न कुछ देवोपहार था। मैंने देखा कि कई भक्त उपहार के निमित्त स्वर्ण थालों में मणि-मुक्ता सजाए जा रहे थे। मैं नहीं जानता

था कि उनका कुछ महत्त्व है। परिहास की आँखों में तो उनका मूल्य और भी गिर गया। किसी को "काठ का उल्लू" और किसी को "चिड़िया घर का पक्षी" बनाता हुआ सब के आगे मन्दिर-द्वार पर पहुँच गया। द्वार बन्द था। खुलने की प्रतीक्षा करता रहा। इतने में और भी आपहुंचे। फाटक खुल गया। परिचित लोग घुस गये। कुछ लोगों से रक्षकों ने पूछ-ताछ की और उन्हें भी प्रवेश की आज्ञा मिल गई, किन्तु मैं भीतर न जा सका। तर्क-वितर्क का उत्तर धक्कों से मिला। कुछ देर खड़ा रहा और सोचता रहा कि क्या करूँ? लौटूँ या ठहरूँ? संभव है निर्दय प्रतीहारों के हृदय में सदयता अंकुरित हो उठे, इस विचार से प्रतीक्षा करना ही उचित प्रतीत हुआ। लौटना का-पुरुषों का आचरण और पराजय का प्रतीक था। अभाव पत्र, पुष्प, फल या तोय का ही तो है और ये सब मैं ला सकता हूँ; फिर शीघ्र ही इनके संचय से प्रवेश का अधिकार क्यों न प्राप्त लूँ। इनके संचय में देर की क्या बात थी? इन्हें अविलंब ले आया, फिर भी द्वारपाल ने भीतर न जाने दिया। वह बोला- "आगन्तुक, तुम अनभिज्ञ हो। तुम में स्पर्द्धा है, साधना नहीं। साधना का अर्जन करने तक प्रतीक्षा करो। तुम पुजारी होना चाहते हो; अतएव पहिले भाव और आचरण की शिष्टता ग्रहण करो, योग्य बन कर आओ, फिर इष्ट की प्राप्ति होगी।"

प्रतीक्षा के नाम ने मुझे व्याकुल कर दिया, मेरा साहस

टूट गया और असहाय की भाँति फूट-फूट कर रोने लगा। एक धक्का और लगा कि मादकता उतर गई। मैं सचेत होगया। कागजों के बिछौने पर कलम की नथुनी दबा कर सोचने लगा क्या वह स्वप्न था?'

मैं था अपनी नई दुनिया की खोज मे, किन्तु लोग मुझे पागल समझते थे। मित्रों ने आना और परिचितों ने बात-चीत करना बन्द कर दिया। मार्ग में निकलता तो नुमायश की चीज बन जाता, अँगुलियाँ उठने लगतीं। घर में होने वाले दैनिक नाटक का सूत्रधार तो मैं ही था, फिर बच्चों के रोने-पीटने और गृहिणी के कोसने और उलाहने की चिन्ता क्यों होती? भग्न गृह, नग्न शरीर और रिक्त उदर के बल पर ही तो मेरा 'एवर-शार्प' वेग से दौड़ रहा था। उसकी प्यास इतनी बढ़ रही थी कि 'क्विंक' ने शायद ही कभी सप्ताह पकड़ा हो। माँ-बाप ने खिन्न होकर पृथक् कर दिया। कुछ दिन साथ देकर बहिन भी खिंच बैठी। सारा भार मनोरमा के ऊपर आ पड़ा। वह दिन में सेठ की दो लड़कियों को पढ़ा देती और रात को चर्खा चलाती। इसीसे जैसे-तैसे निर्वाह हो रहा था। मैं, चिन्ता और अचिंता दोनों से ऊपर, भूख प्यास से मुक्त, किसी विचित्र लोक में था। अनासक्त तो नहीं था, पर मेरी एकासक्ति में कोई सन्देह भी नहीं था। विपन्नता की कथा मनोरमा के अन्तःकरण पर लिखी जा रही थी और मैं उसे अपने मन की आँखों से पढ़ रहा था। अशुद्धियाँ होतीं तो अनुभव सुधार देता।

वह थी मेरी एकान्त साधना जिसमें जीवन और मन की एकाग्रता का सुन्दर सामंजस्य था। लोग मेरे लिए क्या करते या कहते हैं, इसकी चिन्ता तो तब होती जब मुझे उनकी सत्ता का परिज्ञान होता। मेरा मन विश्व का एकमात्र ईश्वर और जीवन भाव की अकेली भूमि था। ध्यान की एकत्रता ने क्रिया और उद्देश्य का सगम सरल कर दिया था।

उपास्य का रेखा-चित्र अभी अंकित नहीं हो सका था और न मैं उपास्य के प्रति उपासक के आचरण का ही निश्चय कर सका था, पर हाँ, यह अवश्य जान चुका था कि भाव के उत्तमांग में उपास्य का आसन है। मेरे और उपास्य के बीच में एक प्रतिसीरा थी, इसलिए मुझे 'इष्ट' न दीख सका। लक्ष्य दूर न था, केवल अन्तराल मिटाना था। साहसी और डरालु पथिक की भांति मैं बढ़ता ही गया। पथ विघ्नपूर्ण था, किन्तु मुझे निराश न कर सका। शूलों को कुचलता, अश्मों को चूर करता, और अर्गलाएँ तोड़ता हुआ शैलारोहण करता चला गया। ऊपर पहुँचा; खोज की; उपवन मिले, एक नहीं; अनेक; किन्तु वह नहीं जिसमें मेरे साध्य की प्रतिष्ठा थी, जिसकी मुझे खोज थी और जो मेरे उन्माद का कारण था। मै ही क्या, वहाँ तो और अनेकों भी लोग घूम रहे थे। क्यों? वे जानें। पूछा भी फिर किसी के उत्तर से सन्तोष न मिला। पर्यटन चलता रहा, देव—

दर्शन होते रहे; किन्तु उस भव्य उपवन-मन्दिर के दर्शन न होने से मुझे शान्ति न मिल सकी।

शनैः शनैः निराशा का मान बढ़ता गया; बुद्धि अस्थिरता से पर्याकुल हो गई और आशा की अन्तिम रश्मि भी अस्त हो चली। विषण्णता से प्राण शून्य होने लगे। एक आह के साथ भूमि पर गिर गया। आगे क्या हुआ, मैं नहीं जानता। कितनी देर पड़ा रहा, अचेतनता जानती होगी। हाँ मुझे इतना याद है कि तेजपुंज से मंडलित एक दिव्य मूर्ति ने मेरे कपोल पर हल्की सी थपकी दी। लोचन उन्मीलित हो गये। उनमें दिव्य आलोक भर गया। उसकी दिव्य गिराति से प्रकट होती हुई अम्लान भारती के पीयूष की मेरे श्रुति-विवरों में इस प्रकार वर्षा होने लगी "बालक, तुम हार गये? यही बल था?" यह सुनना था कि मैं सँभल कर बैठ गया, किन्तु अब वह दृश्य नहीं था। मुझे प्रकाश दीख रहा था, पर भीतर उसी में मुझे खोई हुई आशा मिल गई। साहस उसके साथ था। वे मेरी भूल में छिपे थे। अब मैंने उनका पल्ला पकड़ लिया और उन्होंने मेरा हाथ। अन्तराय आलोक में अन्तर्लीन हो गये और मुझे नई दुनियाँ का आधार मिल गया।

मुझे भूमि मिल गई। उपवन का चित्र स्मृति पर था ही। निर्माण की इच्छा हुई, शक्ति का संचार हुआ और प्रकाश आगे चल दिया। परिस्थितियाँ साथ देने लगीं। श्रमशील सेवक

मिल गए। काम चलने लगा। इतने ही में काली घटा आछाई और बिजली के अट्टहास के साथ बोली "महाशय! तुम और इतना बड़ा आयोजन!! क्या इतना बड़ा संचय है कि असियों को उपजीवन देते रहो? विलम्ब से व्याकुल तो न हो उठोगे?" यह सुन कर बुद्धि के प्राण सुख गए। अब साहस आगे बढ़ा और ललकार कर बोला "चिन्ता! क्या मैं तुझे निराशा की दूती नहीं जानता? और क्या तू मुझे दिव्य शक्ति का आकर नहीं समझती? मेरा ही उपनाम पौरुष है। मैं ब्रह्म-माया का सीधा हाथ हूँ। ओ कायर मनों की नर्तकी! तू मेरे सामने भी ठहरती है! क्या मेरे बल से परिचित नहीं? मैं उद्भव, स्थिति और संहार की समष्टि हूँ, निर्बलों में बल, कायरों में शूरता भीरुओं में निर्भयता और निराशों में आशा का संचार करता हूँ। तू घनघटा बन कर प्रकाश को दबाना चाहती है। ले सँभल, मैं भी झंझा-वात बन कर तेरा सत्ता-नाश किए देता हूँ।" मैंने देखा कि चिन्ता तत्क्षणात् ही विलीन थी। साहस, आशा और प्रकाश मेरे साथ थे, फिर चिन्ता कैसे रहती?

साधनों के समीकरण के उस पार सिद्धि का द्वार था! विघ्नों के मुख में होकर मैं वहाँ जा पहुँचा। मेरा उपवन बन चुका था। सुखंडित केदारों में बाल-पादप और लताएँ झूम रही थीं। सुन्दर डालियाँ, प्यारी हरियाली, लाल किसलय, रंगीन कलियाँ—अहा, कितना रम्य उपवन था! श्रान्त पथिकों का सुख

मानों वहीं सन्निहित था। चौपड़ों पर जलयंत्रों की फुहारों में मणिदीपों का प्रकाश, कृत्रिम सरिताओं में सुरंग मत्स्यों का विलास, वायु में सौरभ का उन्माद, लताओं में ललित नर्तन और सुमनों में उल्लास देखकर नन्दनवन भी हीन जान पड़ता था। तरु-विहगों के रव-मधु को पी-पी कर दिशाएँ विहायस के उल्लासों में तृप्ति-श्वास ले रही थीं। लता-निकुंज भ्रमरों के संकेत-गृह बन रहे थे।

रचना-क्रम प्रान्तों से केन्द्र की ओर चल रहा था, विकास सहचर था, रूप की वर्षा हो रही थी। मै विटपवलित मध्य-वर्गस्थली में एक मन्दिर की कल्पना कर रहा था जिसके चारों ओर अतल परिखा और आँगन में सरोवर हो, दोनों में देवता का प्रतिबिम्ब हो और प्रकाश 'रूप' ढाल रहा हो; मन्दिर के कण कण में सजीवता और प्रतिमा-प्रतिमा में मुखर संदेश हो; वास्तुकला में प्रकृति का शृंगार और चेतन की एकता हो; चित्रों में भाव और भावों में हृदय सौन्दर्य ऊर्मिल हो। मैं चाहता था कि वह सुर-शिल्पी के कौशल की प्रतिकृति हो और उसमें स्वपरात्मक निर्वृत्ति की सम्पन्नता सिद्ध हो।

इधर तो आदर्श की खोज थी, उधर ईर्ष्या की कुटिल दृष्टि उपवन पर पड़ गई। सम्मतियों मे छद्म वेश में होने से वह मुझे न दीख सकी। बाएँ हाथ में प्रशंसा और सीधे में प्रस्ताव थे। हृदयग्राही होने से प्रस्तावों की भाषा ने मुझे मुग्ध कर लिया

संशोधन प्रसूति पाने लगे। रहस्य के न समझने से मैं श्रम और सौन्दर्य का गला घोंटता गया। उपवन की सुतलता में विषमता का पदार्पण होने लगा। रमणीयता विध्वंस में छिपने लगी। विडम्बना हँसने लगी। ध्वंस बढ़ता गया। सौन्दर्य-भावना ईर्ष्या की दाढ़ों के नीचे कराहने लगी और प्रतिभा विकास को दफनाने चल दी। ईर्ष्या के प्रवेश से मेरी भूल बहुत आगे बढ़ गई थी। मै जगता हुआ भी सोरहा था और बनाता हुआ भी बिगाड़ रहा था।

अभिनव आलोचना के गर्भ में प्रस्तावों की कलई खुल गई; किन्तु उसका पूरा रंग मेरी बुद्धि की आँखों को प्रकट न हो पाया। भावुक हृदय तिलमिला उठा। सन्देह जाग्रत होगया। अनुमान अनिश्चय की पीठ ठोकने लगा। प्रस्तावों में कभी अनुभव की प्रतीति होती और कभी आलोचना में सुहृत्ता का आभास। कभी इधर झुकता कभी उधर। सन्देह में विनाश की दृष्टि रहती है, मैं यह अनेक बार सुन चुका था। 'सन्देहात्मा विनश्यति' का अविरल ध्यान आने लगा। उससे व्याकुलता बढ़ती गई; स्फूर्ति का ह्रास होता गया और आलस्य एवं शिथिलता उसका स्थान लेते गये। साहस का पल्ला छूटने लगा और निराशा का अन्धकार क्रमशः प्रगाढ़ होता गया। मानसिक आन्दोलन में भाव हतप्रभ होगये। लेखनी का काला मुख शून्य को ताकने लगा।

सहसा विचार रुक गये, आँखें बन्द होगई और हृदय मौन होगया। उसी दशा में प्रकाश की एक किरण चमक उठी। मुझे अन्धकार के भीतर- हृदय के एक कोने में, आशा और साहस छिपे दीख गये। प्रकाश ने मेरी भूल पकड़ली। मैं सकुचा गया। वे दोनों (साहस और आशा) सामने आगये।

भूल के ऊपर ही मेरा मार्ग था। वहीं शान्ति और सन्तोष का आवास था। मार्ग छूटने से ही मैं अन्धकार में जा पड़ा था। इसी कारण प्रकाश का लोप होरहा था, इसी से सन्देह को आशा पर बलात्कार का अवसर मिल गया। प्रकाश के उपकारों का मैं अति आभार मानता हूँ। विलोप के समय साहस और आशा की खोज उसी ने की थी। अब मैं सचेत था। दुष्टों की कुत्सित भावना पकड़ में आगई थी। मैंने कुछ खोकर पाया, किन्तु अक्षय निधि। अनुभव के स्कूल में मुझे आत्म-निर्भरता का पाठ सीखने को मिला। श्रम की आवृत्ति से मैंने अपनी भूल का प्रायश्चित्त किया। परिशोधन में विलंब तो हुआ, परन्तु सुन्दरता स्थिर होगई।

भूमि पुनः समतल थी। मार्ग परिष्कृत थे। जल में निर्मलता, निकुंजों में सरसता, तन्वी लताओं मे सुमन-परिहास और वृक्षों में विकास पहले से कहीं अधिक था। उपवन के पत्ते-पत्ते में, और भूमि के कण-कण में मुझे अपने हृदय का रूप दीखता था। वहाँ के प्रत्येक शब्द में मेरे हृदय की ध्वनि थी।

उपवन को निरखता परखता वर्गाकार की ओर चल दिया। वहाँ मन्दिर बन चुका था। उसकी सुन्दरता स्वप्न लोक में कहाँ थी? आकाश की नीली छत, चन्द्र-तारा के प्रकाश दीप और रश्मि-तारों की झालर, जिसकी गहराई में पाताल, और दीवारों में दिशाएँ। एक छोटे से भू-वर्ग में स्थित भी, विश्व का प्रतिरूप था। मैं निर्भय भीतर चला गया। अब यहाँ मुझे रोकने वाला कौन था? बढ़ता गया और सामने देखा कि अतल सरोवर के बीच में हरित मणियों का एक सिंहासन था। उसे पद्मराग और हीरकों के रेखा-चित्रों से भूषित किया गया था। गज मोतियों की झालरें लटक रही थीं और नील मणियों के पाये थे। उस पर एक शुभ्र, सुकान्ति और सुतेज देव की प्रतिष्ठा थी। उनकी मंजुल मुस्कान सुधा-सरोवर पर छिटक रही थी। मैं देव-चरणों के समीप पहुँचता गया और सुधा-तल ऊपर उठाता ले गया। आज पहलीबार अपने 'आदर्श' के दर्शन किए। चरणों में गिर कर अपने इष्ट का अभिवादन किया। करस्पर्श के साथ साथ उनका आशीर्वाद प्राप्त हुआ। भाषा की भूमि पर कल्पनाओं का उपवन, विचित्र अलंकार-सुमन, और सुरम्य भावमन्दिर। पूजा के सब उपकरण थे और मैं था पुजारी।

रसानुभूति और अलंकार

जिस प्रकार अरणियों की रगड़ से अग्नि प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार किसी घटना, दृश्य, दशा अथवा स्थिति के दर्शन या स्मरण से अन्तःकरण में जो विकार प्रकट होते हैं उन्हें भाव कहते हैं। अचेत रूप में तो वे हृदय में सदैव ही विद्यमान रहते हैं, किन्तु 'विक्रिया' सचेत रूप में ही होती है। अपने मूलरूप सुख और दुःख में भाव शिशु तक में पाये जाते हैं। वे उसके हँसने और रोने द्वारा व्यक्त होते हैं। अपने मूल रूप में वे जितने सरल हैं उनकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही सरल है। जैसे-जैसे शिशु का व्यक्तित्व विकसित होता जाता है, वैसे-वैसे ही सुख-दुःख की अभिव्यक्ति जटिल बनती जाती है। सुई के चुभने पर शिशु जिस दुःख को अपने रोने द्वारा अभिव्यक्त करता है उसी को प्रौढ़ व्यक्ति केवल मुख सिकोड़ कर व्यक्त कर देता है।

भावाभिव्यक्ति के साधन हैं मुद्रा, संकेत और भाषा। मुद्रा उनमें से सरलतम साधन है, किन्तु विकास की दशा में वह भी जटिल बन जाती है; अतएव मुख के सिकोड़ने से घृणादि अन्य भाव भी व्यक्त किए जाते हैं। यह जटिलता विकास-दशा में अन्य साधनों में भी आजाती है।

भावों की कोई संख्या निश्चित करना मानों हृदय को परतंत्रता को सौंपना है; परन्तु उनका मूल द्विधारूप में

निश्चित है। कोई भी भाव अनिवार्यरूप से सुख वा दुःख के ही अन्तर्गत रहता है। शोक, घृणा, भय आदि दुःखमूलक हैं और उत्साह, हर्ष, प्रेम आदि सुखमूलक। करुणादि कुछ भाव ऐसे भी हैं जो उभयमूलक माने जाते हैं।

जब भाव उपयुक्त सरसता पाकर भाषा में अवतीर्ण होते हैं, तब उनसे काव्य की सृष्टि होती है। जिस वाक्य में जीवन की कल्पना का सरस आधार नहीं मिलता, उसे 'काव्य' कहना उचित नहीं है। रस का आस्वादन कल्पना के द्वारा किया जाता है। "शरःपतन से भयभीत होकर भागते हुए हरिण को सचमुच कोई रस नहीं आता, किन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं कि हरिण को भयभीत देखकर दर्शक भी भयभीत होता है। यदि वह भी भयभीत हो तो हरिण की तरह रस की अनुभूति उसे भी नहीं होती। शोकाकुल व्यक्ति रसानुभूति कभी नहीं कर सकता। आनंद का मूल कारण भाव-मग्नता है। वृत्तियों की चंचलता की दशा में भावमग्नता के अभाव से आनंद नहीं मिल सकता। दुःखद घटना में रहने वाले भाव की तीव्रता स्मृति का रूप पाकर मृदुल बनजाती है। दुःखात्मक काव्य-रचना करते समय भी कवि दुःख का अनुभव नहीं करता; प्रत्युत उसे ऐसी शान्ति मिलती है जो दुःखमूलक होते हुए भी भाव-मग्नता के कारण सुखरूप वन जाती है।

काव्य को सरसता और सौन्दर्य क्रमशः रस और अलंकारों मिलते हैं। रस आनंद प्रदान करता है और अलंकार काव्य

को विभूषित करते हैं। भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में अलंकार बड़े सहायक होते हैं। यदि किसी वर्णन में उनसे इस प्रकार की कोई सहायता नहीं पहुँचती है, तो वे काव्यालंकार नहीं, भारमात्र हैं। शरीर के समान काव्य भी जड़ और चेतन का समन्वय है। रस काव्य की आत्मा है, शब्दार्थमय भाषा उसका शरीर, गुण उसका धर्म और रीति तथा अलंकार उसका शृंगार है।

अलंकार-प्रियता मानव जाति के लिए कुछ स्वाभाविक सी है। नारी तो अलंकार धारण करती ही है, नर भी इस प्रवृत्ति से असंपृक्त नहीं है। भिन्न-भिन्न देशों, कालों और जातियों के अलंकारों में चाहे आकाश-पाताल का भेद रहे, पर यह प्रवृत्ति विद्यमान सभी में है। आभूषण-प्रेम सभी में रमा हुआ है। इसके मूल में आत्मप्रदर्शन की मूल प्रवृत्ति है। केवल आत्म-प्रदर्शन की ही नहीं आत्माभिव्यंजन की प्रवृत्ति भी इसके मूल में रहती है। भाषा का उदय भी इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ है।

आत्मप्रदर्शन भी जैसा बुरा समझा जाता है, वास्तव में वैसा बुरा नहीं है। उससे हमारे आत्म-भाव की पुष्टि होती है। मित्र के आने की सूचना पाकर हम उसके स्वागत के लिए गृह को पुष्पादि से अलंकृत करते हैं और नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन बनाते हैं। आत्म भाव को व्यक्त करने के प्रति आत्म-प्रदर्शन स्वतः ही होजाता है, यद्यपि वह मूल भाव नहीं होता।

हमारे अलंकार आत्माभिव्यक्ति में सहायक होते हैं और कभी कभी उनसे आत्म-प्रदर्शन में भी सहायता मिलती है। साहित्य सर्जना में जो उत्साह प्रेरक होता है वही अलंकारों का भी मूल स्रोत होता है। मनुष्य अपने मन की बात कहना ही नहीं चाहता, वरन् अपने हृदयगत भावों का प्रेषण भी चाहता है। बच्चे सुन्दर वस्तु से प्रभावित होकर अपने हृदयगत कोमल भावों को उछल-कूद कर व्यक्त करते हैं। भावुक जन आनन्द-विभोर होकर सुन्दर कला की सृष्टि कर डालते हैं। हृदय के भाव प्रकट करने के प्रति साधारण भाषा शिथिल प्रतीत होती है, अतः आलंकारिक भाषा का प्रयोग किया जाता है। आलंकारिक भाषा से हमारी अभिव्यक्ति में बल ही नहीं आजाता अपितु स्पष्टता भी आजाती है। अलंकारों से हमारे सामने मानसिक चित्र उपस्थित होजाते हैं। प्रस्तुत में अप्रस्तुत का संबन्ध प्राप्त कर हम ससार में ऐक्य की अनुभूति द्वारा तृप्त होते हैं। इस प्रकार अलंकार सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक संबंध स्थापित कराने में सहायक होते हैं। एक नायिका के प्रेम के कारण कमल, चन्द्रमा, भ्रमर, हंस आदि, न जाने कितने, पदार्थों से संबन्ध हो जाता है।

इस संबन्ध-स्थापन तथा भाषा के स्पष्टीकरण में दो मनो-वैज्ञानिक तत्व कार्य करते हैं विचार-तारतम्य तथा कल्पना। दोनों की प्रेरणा से ही कविगण अपनी कृति को अलंकृत करते हैं। भावों में स्पष्टता, प्रेषणीयता और उत्कृष्टता लाने के लिए

भाषा का अलंकृत करना अवश्यक होजाता है, जैसे मनुष्य किसी को अपने स्वभाव तथा गुणों से आकृष्ट करता है, परन्तु उसकी वेष–भूषा भी आकर्षण में सहायक होती है।

अलंकार के स्वरूप की ओर ध्यान देते ही इस बात का पता चल जाता है कि वह कथन की एक युक्ति या वर्णनशैली मात्र है। अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए। अलंकार चार दिशाओं में अपना काम करते देखे जाते हैं (१) कहीं वे भावों की उत्कर्ष–व्यंजना में (२) कहीं वस्तुओं के रूप (सौन्दर्य, भीषणत्व आदि) का अनुभव तीव्र करने में (३) कहीं गुण का अनुभव तीव्र करने में और (४) कहीं क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक होते हैं।

मुक्तक और प्रबन्ध, काव्य के दोनों रूपों में अलंकार रसानुभूति में सहायक होते हैं, पर मुक्तक में रस सरोवर के जल की भाँति स्थिर होता है; अतः रस की आस्वाद्यता आलंकारिक आयोजन से उसी प्रकार प्रभावित होती है, जिस प्रकार सरोवर का स्थिर जल कृत्रिम (घाट आदि) तथा नैसर्गिक (लता वृक्ष-आदि) सुषमा से प्रभावित होता है। वृक्षादि विहीन सरोवर जल के होते हुए भी दर्शक की रुचि को उतना आकृष्ट नहीं करता जितना उनसे वलयित। शीतल छाया, हरित सुमनित लताएं, पक्षियों की केलि और कलध्वनि जल की प्रकृति को तो

नहीं बदल सकती, पर तृप्ति को अधिक गंभीर और सन्तोषमय बनाने में उनके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मुक्तक काव्य में अलंकारों से बिल्कुल वैसी ही परिस्थिति बन जाती है जैसी वृत्तादि से; पर मुक्तक के रस में सरोवर के जल की सी गहराई खोजना उचित नहीं। मुक्तक काव्य में तो रस के केवल छींटे ही मिलते हैं; अतएव वहाँ अलंकारो को प्रबन्ध की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन काम करना होता है। अलंकारों की सहायता से रस के छीटों से तृप्ति सहज ही में हो जाती है, साथ ही उनके कुशल प्रयोग से तृप्ति में गंभीरता भी आजाती है।

मुक्तक काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध के अन्तर्गत तृप्ति में स्थायित्व की मात्रा बहुत अधिक होती है, किन्तु दोनों स्थलों पर अलंकारों में आस्वाद्यता को सद्यता और सरलता प्रदान करने की क्षमता समान रूप से विद्यमान रहती है। कहना न होगा कि रसानुभूति में संस्कार बडे सहायक होते हैं, अथवा यह कहिए कि जब तक संस्कार नहीं बनते रसानुभूति दुस्साध्य है। मुक्तक काव्य में मन्द एवं अस्पष्ट संस्कारों को ही अलंकारों की सहायता तीव्र और स्पष्ट नहीं कर देती, अपितु भावाभिव्यक्ति को भी सरल बना देती है। प्रबन्ध काव्य में न तो संस्कार ही मन्द होता है और न भावाभिव्यक्ति ही इतनी कठिन होती है। उसमें बहुत थोड़े संस्कार ही ऐसे होते हैं जिसके संबंध में कल्पना या अनुमान को दौड़ाना पड़ता है, अन्यथा परिस्थितियाँ और वातावरण स्वतः ही संस्कारों की सृष्टि और पुष्टि करते जाते

हैं। फिर भी 'प्रस्तुत' में 'अप्रस्तुत' तो प्रबन्ध काव्य में भी काम करता ही है। इन दोनों के मध्य संबंध स्थापना भी कल्पना-जन्य ही होती है। अप्रस्तुत संस्कारों के बल से प्रस्तुत के संबंध में भाव व्यक्तीकरण को अधिक सरल और स्पष्ट बना देता है। मुक्तक काव्य में संस्कारों की गहन स्थिति होती है, अतएव रसानुभूति तीव्र होती है। प्रबन्ध काव्य में रस विकास की दशा में होता है, अत. उसकी अनुभूति इतनी तीव्र और गहन नहीं होती। भावाभिव्यक्ति को सरल और स्पष्ट बनानेवाले संस्कार वहाँ प्रायः प्रस्तुत ही रहते हैं; फिर भी अनेक मार्मिक स्थल ऐसे होते हैं जहाँ संस्कारों को गहन बनाकर रसानुभूति में अविरल तीव्रता लाने की आवश्यकता होती है। यह काम अलंकारों से सम्पन्न होता है। कुछ स्थल ऐसे भी होते हैं जो केवल कथानक के जोड़ने का काम करते हैं। ऐसे स्थलों पर अलंकारों की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ रस विलीन-सा होजाता है। वे बिल्कुल वैसे ही स्थल होते हैं, जैसे सरिता कूल पर सुषमा-विहीन स्थल। जिस प्रकार ऐसे स्थलों से निकल कर निसर्ग-सौन्दर्य के मध्य में पथिक की अवलोकन-वृत्ति अधिक तृप्ति और सन्तोष प्राप्त करती है, उसी प्रकार प्रबन्ध काव्य में अलंकारविहीन स्थलों से निकल कर रसिक की आस्वादनवृत्ति अधिक तृप्ति और संतोष पाती है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के अलंकार भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूति में सहयोग प्रदान करते हैं। नूपुर ध्वनि से जिस प्रकार की अनुभूति

बनती है, उस प्रकार की अनुभूति घंट-ध्वनि से नहीं बनती, अथवा साध्वी की वेष-भूषा से जिस प्रकार की शम-वृत्ति बनती है वैसी शृंगारवती की वेष-भूषा से कभी नहीं बनती, चाहे उसके हृदय में शम की प्रधानता ही क्यों न हो। इसी प्रकार से अलंकार अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने ढंग से कार्य करते हैं, पर प्रत्येक क्षेत्र में वे रसानुभूति में सहायक बन कर अपने सामान्य धर्म को सिद्ध करते हैं।

अलंकार भाषा के शब्द और अर्थ, दोनों रूपों में काम करते है। जहाँ शब्दों द्वारा काव्य का अलंकरण होता है, वहाँ शब्दालंकार होते हैं और जहाँ अर्थों द्वारा, वहाँ अर्थालंकार होते हैं। शब्दालंकार अक्षरों या शब्दों की विशेष योजना से विशेष ध्वनि उत्पन्न करके रसानुभूति में उसी प्रकार सहायक बनते हैं, जिस प्रकार कलन्दर के डमरू की ध्वनि कपि नृत्य के सम्बन्ध में हमारी अनुभूति में सहायक होती है। अर्थालंकार अर्थों द्वारा रसानुभूति को तीव्र, स्पष्ट और सरल बनाने में सहायक होते हैं काव्य में जितना महत्व अर्थालंकारों का है, उतना शब्दालंकारों का नहीं, क्योंकि वे केवल चमत्कार-क्षेत्र में ही कृतकार्य हो सकते हैं। सिद्धान्ततः अर्थालंकारों का मूलाधार 'अतिशय' दीख पड़ता है। 'चन्द्रमुख' शब्द में मुख को चन्द्रमा के समान कह कर 'मुख-सौन्दर्य' के अतिशय को व्यक्त करना अभिप्रेत है, परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में उनके तीन स्पष्ट आधार दृष्टिगत होते हैं

साम्यमूलक, वैषम्यमूलक और उक्तिमूलक । साम्यमूलक अलंकार 'प्रस्तुत' की आकृति, वर्ण, अथवा गुण के सम्बन्ध में हमारी वृत्ति को सजग करके हमें तृप्ति प्रदान करते हैं। वैषम्यमूलक अलकार साम्यमूलक अलंकारों के बिल्कुल विपरीत हैं। इनमें वाह्य वैषम्य और आन्तरिक साम्य होता है। ये वाह्य वैषम्य से हमारी वृत्ति को आश्चर्यमय बना कर और रोक कर आन्तरिक साम्य से तीव्रगति बना देते हैं। जहाँ बुद्धि और विवेक से सुसिद्ध तर्क के बल से रसानुभूति को सहयोग मिलता है, वहाँ उक्तिमूलक अलंकारों का क्षेत्र होता है। वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति आदि अलंकार इसी क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार अलंकार काव्य के रूप का प्रसाधन करते हुए भावाभिव्यक्ति और भाव-प्रदर्शन में सहायक होकर आस्वादन-वृत्ति को सरल और तीव्र तथा रसानुभूति को गहन बनाने में सहायक होते हैं।